[illegible]

68595

* ओ३म् *

ब्रह्मचर्य-प्रदीप

[पवित्र अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त का स्वाध्याय]

लेखक
श्री पण्डित जगत्कुमार शास्त्री
"साधु सोमतीर्थ" आर्योपदेशक

प्रकाशक
मधुर-प्रकाशन
सीताराम बाज़ार, देहली-६

प्रथम वार] शिव-रात्रि, १९७० ई० [चार रुपये

प्रकाशक
राजपाल सिंह शास्त्री
मालिक—मधुर-प्रकाशन
आर्य समाज मन्दिर, देहली-६

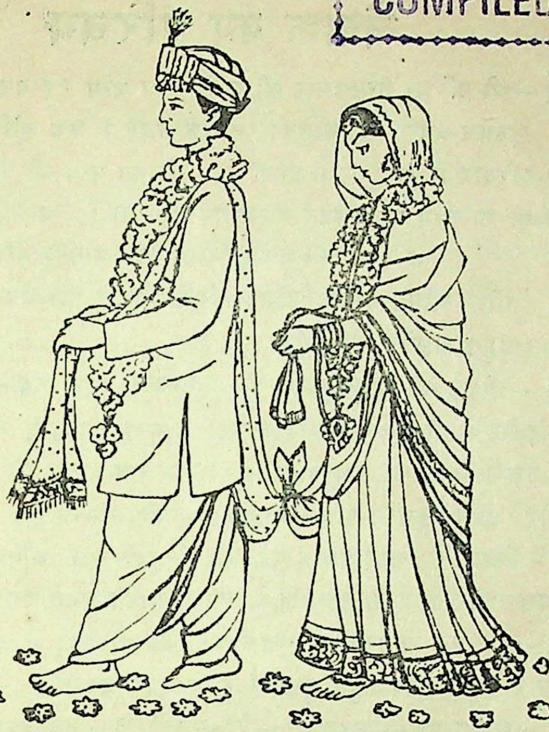
मुख्य-उद्देश्य

१—सात्विकता-संवर्धक और मानव-जीवन के नव-निर्माण में सहायक साहित्य का प्रकाशन एवं प्रसार "मधुर-प्रकाशन" का मुख्य-उद्देश्य है। आर्य-जनता की साहित्य-विषयक माँग को हम सहर्ष पूर्ण करेंगे। प्राचीन आर्य-साहित्य का सम्पादन, संशोधन और जीर्णोद्धार भी मधुर-प्रकाशन द्वारा होगा।

स्थायी-ग्राहक

२—नई पुस्तक के प्रकाशित होने पर मधुर-प्रकाशन के स्थायी ग्राहकों को सूचना भेज दी जाती है। पुस्तक के मंगवाने या न मंगवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। स्थायी-ग्राहकों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता। एक पत्र लिख कर आप भी स्थायी-ग्राहकों में समिलित होने की कृपा कीजिये।

मुद्रक
डीलाइट-प्रेस
चूड़ी-वालान, चावड़ी बाजार
देहली-६



ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

[ब्रह्मचर्य-प्रदीप पृष्ठ सं० ११७] अथर्व० ११ । ५ । १८

प्रेमोपहार-

....

......

लेखक का परिचय

१—श्री पण्डित जगत्कुमार जी शास्त्री का जन्म ११ नवम्बर सन् १९१२ ई० में कुरुक्षेत्र-प्रदेश के थानेसर नामक नगर के एक कौशिक-गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता जी का नाम श्री पण्डित श्रीराम जी और बाबा का नाम श्री पण्डित मंगलसिंह जी था। आप आर्य समाज के य श्री १०८ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के प्रिय शिष्यों और श्रीमद्दयानन्दोपदेशक विद्यालय गुरुदत्त-भवन लाहौर द्वारा प्रशिक्षित प्रमुख आर्योपदेशकों में से एक हैं।

२—पण्डित जी जितने अच्छे व्याख्यान-दाता और कथा-वाचक हैं, उतने ही अच्छे लेखक भी हैं। वेदादि शास्त्रों के सुयोग्य विद्वान्, आर्य सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, उत्तम विचारक, स्वाध्यायशील सरल, सब प्रकार की दल-बन्दियों से दूर और अपने कर्तव्य-पालन में उत्साह-पूर्वक संलग्न हैं। हाँ, सिद्धान्तों के विषय में किसी से किसी प्रकार का समझौता करना आपको पसन्द नहीं। एक सुवक्ता और आर्य साहित्यकार के रूप में आपने प्रभूत यश प्राप्त किया है।

३—अब तक आपकी जो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, उनकी पृष्ठ-संख्या कई हज़ार है। आपकी कुछ पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं :—

१—मानव-धर्म-प्रचारक, २—वेद-मंजरी, ३—देवयज्ञ-प्रदीप, ३—ब्रह्म-यज्ञ-प्रदीप, ४—दृष्टान्त-मंजरी, ५—गीत-मंजरी, ६—वैदिक-प्रार्थना, ७—वैदिक-प्रवचन, ८—आर्य-विनय, ९—ईश्वर-दर्शन, १०—सदाचार-चन्द्रिका, ११—जीवन-प्रभात, १२—मातृ-मन्दिर, १३—प्रवचन-माधुरी, १४—वैदिक-युद्धवाद, १५—वैदिक-भक्तिवाद, १६—श्रद्धा-माता, १७—गायत्री-माता, १८—उर्मिल-मंगल, १९—शिवाबावनी, २०—ओङ्कार-जप-विधि, २१—"ब्रह्मचर्य-प्रदीप" प्रस्तुत है। २२—"श्वेताश्वतरोपनिषद्-भाष्य" शीघ्र छपेगा। आपके सम्पादित-ग्रन्थ "दयानन्द-ग्रन्थ-संग्रह" महर्षि दयानन्द की २० लघु-पुस्तकों का समुच्चय "वेद में स्त्रियाँ" और "ओङ्कार-निर्णय" आदि हैं। अनुवादित-ग्रन्थ "कुलियात आर्य मुसाफिर" का बृहद्काय प्रथम भाग है। आपका अप्रकाशित साहित्य भी बहुत अधिक है, जोकि प्रकाशनार्थ तैयार है।

—सुरेन्द्रशर्मा गौर, वेद-काव्यतीर्थ

लेखक के निवेदन

१—पवित्र अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का पाँचवां सूक्त "ब्रह्मचर्य-सूक्त" के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मन्त्रों की संख्या छब्बीस है। इसका ऋषि अर्थात् मन्त्र-द्रष्टा "ब्रह्मा" है और देवता अर्थात् विषय "ब्रह्मचारी"।

२—प्रत्येक आस्तिक, सुविकसित, वेदों का पूर्ण विद्वान्, मन, वचन और कर्म से पूर्णतया आचारवान्, सबल और सर्वहितैषी मनुष्य इस "ब्रह्मा" पदवी का अधिकारी है। किसी पौराणिक ब्रह्मा का आकल्पन यहाँ व्यर्थ है। संसार में अनेकों ब्रह्मा पहले हो चुके हैं और आगे भी होंगे। यह मन्त्र-द्रष्टा ब्रह्मा किस माता का लाल था? और किस भू-भाग का अधिवासी? इन और ऐसे ही अन्य प्रश्नों के उत्तर अज्ञात इतिहास में निगूढ़ हैं।

३—जो ईश्वरोपासक, वेदों को पढ़ने-पढ़ाने वाला, सदाचारी, जिज्ञासु अर्थात् ब्रह्म-चर है, वही "ब्रह्मचारी" है।

४—"ब्रह्मचर्य-सूक्त" के आधार पर विभिन्न भाषाओं में कई ग्रन्थों का निर्माण अब तक हो चुका है। विचारकों को इस सूक्त ने विशेष रूप से आकर्षित किया है। ब्रह्मचर्यवाद का जैसा सुसंगत, सर्वांगपूर्ण एवं वैज्ञानिक प्रतिपादन इस सूक्त में है, वैसा संसार के साहित्य में और कहीं नहीं है। यह सनातन है, अद्भुत है, सार-सम्पन्न और चिर-नवीन है।

५—इस 'ब्रह्मचर्य-प्रदीप" में सरल और संक्षिप्त रूप में उन सभी बातों का उल्लेख करने का प्रयास किया गया है, जिनकी संसार के नवयुवक-वर्गों को सदा ही विशेष आवश्यकता रही है। भारतीय युवक-युवतियों को तो इस जानकारी की आज सर्वाधिक आवश्यकता है, क्योंकि एक हजार वर्ष की पराधीनता के बाद आज फिर भारत-राष्ट्र का नव-निर्माण हो रहा है।

६—"ब्रह्मचर्य-प्रदीप" का प्रकाशन पहले धारावाहिक लेख-माला के रूप में श्री आचार्य भगवान देव जी द्वारा सम्पादित मासिक-पत्र "सुधारक" में हुआ

था। तभी से इसके पुस्तकाकार प्रकाशन का आग्रह हो रहा था। आशा है, अब इसका प्रभूत स्वागत होगा।

७—इस पुस्तक के आरम्भ में दो संकलन हैं—प्रथम "ब्रह्मचर्य-परिभाषा" शीर्षक विभिन्न-ग्रन्थों के श्लोकों का संग्रह है और दूसरा "महर्षि दयानन्द सरस्वती के आदेश" जोकि महर्षि जी के ग्रन्थों से उद्धृत वाक्य-समुच्चय है। इन दोनों प्रकरणों के विचार से ब्रह्मचर्यवाद के स्वरूप-बोध में पर्याप्त सहायता मिलती है, ऐसा मेरा विचार है। यह तो सर्व-विदित ही है कि आधुनिक भारतीय-जागरण के सूत्रधार श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती जी सुप्रसिद्ध वेदोद्धारक, शिक्षा-प्रसारक और ब्रह्मचर्यवाद के प्रबल प्रचारक, आदित्य-ब्रह्मचारी थे। अपने सभी ग्रन्थों में उन्होंने ब्रह्मचर्यवाद के अनुष्ठान पर सर्वाधिक बल दिया है। संसार का उपकार करने के लिये उस महान् ऋषिराज ने जो ज्योति प्रज्वलित की थी, उसके संरक्षण और अनुष्ठान में ही अखिल मानवता का परम-हित है।

८—"ब्रह्मचर्य-प्रदीप" के प्रकाशक, "मधुर-प्रकाशन" के मालिक और "मधुर-लोक" के सम्पादक श्री पण्डित राजपाल सिंह जी शास्त्री को धन्यवाद देना तो अपने आप को ही धन्यवाद देना है। वे विद्वान् हैं, सुवक्ता युवक हैं, अनुभवी अध्यापक और नैतिकता-प्रसारक आन्दोलन के मुख्य-निदेशक हैं, साथ ही गुरुकुल के यशस्वी स्नातक भी हैं। नैतिक, धार्मिक और सात्विक साहित्य के प्रसार को ही उन्होंने सम्प्रति अपना मुख्य-जीवन-लक्ष्य बना रखा है। उन की प्रगतियों को सबल और सफल बनाना सभी सहृदय पाठकों, सुधारकों और भारत-राष्ट्र के शुभ-चिन्तकों का एक आवश्यक कर्तव्य है।

ऋषि-बोध-महोत्सव
शिव-रात्रि, १९७० ई०

—जगत्कुमार शास्त्री
"साधु सोमतीर्थ"
आर्य समाज मन्दिर, सीताराम बाज़ार, दिल्ली-६

क्रम-संख्या ## विषय-अनुक्रम पृष्ठ संख्या

वेद-मन्त्रों का प्रतीकानुक्रम

ब्रह्मचर्य–परिभाषा

"ब्रह्म" शब्द के अर्थों में वीर्य, वेद और ईश्वर मुख्य हैं। "चर्य" शब्द चर्या अर्थात् आचरण का द्योतक है। इसका व्यवहार संरक्षण, अध्ययन और चिन्तन के रूप में होता है। इस प्रकार यह "ब्रह्मचर्य" शब्द "ब्रह्म और चर्य" इन दो शब्दों के योग से बना हुआ एक समस्त पद है। (ब्रह्म+चर्य=ब्रह्मचर्य) ब्रह्मचर्य शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं :—

१—वीर्य का संरक्षण।

२—वेदों का अध्ययन=पठन-पाठन।

३—ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना।

स्थूल रूप में सदाचार, शिष्टाचार और धार्मिक-जीवन के सभी अंगों=नियमों, सिद्धान्तों और साधनों का ग्रहण इस एक ही "ब्रह्मचर्य" शब्द से होता है।

प्राचीन आचार्यों ने "ब्रह्मचर्यवाद" की महिमा का बहुत विशद वर्णन किया है। उनके कुछ वचन इस प्रकार हैं :—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां, वीर्यलाभो भवत्यपि।
सुरत्वं मानवो याति, चान्ते याति परां गतिम् ॥ १ ॥

ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य को वीर्य का लाभ तो होता ही है, इस से भी बड़ा लाभ यह होता है कि मनुष्य देवपद को प्राप्त कर लेता है। फिर साधना के पूर्ण होने पर वह परम-गति को भी प्राप्त कर लेता है।

न तपस्तप इत्याहु, ब्रह्मचर्यं तप उत्तमम्।
उर्ध्वरेता भवेद्यस्तु, स देवो न तु मानुषः ॥ २ ॥

जिस को तप कहते हैं, वह तो साधारण बात है। वास्तविक तप तो ब्रह्मचर्य ही है। जिस ने वीर्य की रक्षा करना सीख लिया है, उसे मनुष्य नहीं; देव ही समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्यं पालनीयं, देवानामपि दुर्लभम् ।
वीर्यसुरक्षिते यान्ति, सर्वलोकार्थ सिद्धयः ।। ३ ।।

ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक तो है, परन्तु यह एक कठिन कार्य है। देवों को भी इस के परिपालन में कठिनाइयां होती हैं। वीर्य के सुरक्षित होने पर मनुष्य सभी सुखों, सब पदार्थों और सब प्रकार की सिद्धियों को सहज में ही प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्य सुगुणां, शृणु त्वञ्च सुधाधिया।
आजन्म मरणाद्यस्तु, ब्रह्मचारी भवेदिह ।। ४ ।।
न तस्य किञ्चिदवाप्तव्यमिति विद्धि नराधिप।
बहु कोटि ऋषिणाञ्च, ब्रह्मलोके वसन्त्युत ।। ५ ।।

मैं ब्रह्मचर्य के गुण बताता हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो। जो मनुष्य आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, वह सब प्रकार के दुःखों से बच जाता है। हे राजन्! जो मनुष्य ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, उसे कोई भी अभाव नहीं सताता। एकमात्र ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से ही करोड़ों ऋषियों ने ब्रह्म-लोक में आवास को प्राप्त कर लिया है।

चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ।। ६ ।।

जो लोग विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान करते हैं, वे दीर्घ-जीवन और सुन्दर शरीर को प्राप्त करते हैं, तथा वे दृढ़व्रती, तेजस्वी और बहुत पराक्रमी होते हैं।

प्राणभूतं चरित्रस्य, पर ब्रह्मैककारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ।। ७ ।।

चरित्र का मूल-आधार ब्रह्मचर्य ही है। ईश्वर की प्राप्ति का साधन भी ब्रह्मचर्य ही है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, पूज्य पुरुष भी उस का पूजन=आदर सत्कार करते हैं।

मृत्यु व्याधि जरानाशि, पीयूषं परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं, सत्यमेव वदाम्यहम् ।। ८ ।।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत मृत्यु, बुढ़ापे और सब प्रकार के रोगों का विनाशक है।

अमृत भी यही है एवं सब प्रकार के रोगों की सर्वोपरि औषधि भी यही है। मेरा यह कथन सर्वथा सत्य है कि ब्रह्मचर्य साधनों का भी साधन और सब का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

शान्तिं कान्तिं स्मृतिं ज्ञानमारोग्यञ्चापि सन्ततिम्।
य इच्छति महद्धर्मं, ब्रह्मचर्यं चरेदिह ॥ ९ ॥

जो मनुष्य शान्ति, कान्ति स्मृति, आरोग्यता, सन्तान और सर्वश्रेष्ठ धर्म की कामना करता है, वह इस संसार में ब्रह्मचर्य रूपी महान् धर्म का अनुष्ठान अवश्य करे।

ब्रह्मचर्यं परम ज्ञानं, ब्रह्मचर्यं परं बलम्।
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा, ब्रह्मचर्येण तिष्ठति ॥ १० ॥

ब्रह्मचर्य ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। ब्रह्मचर्य ही सर्वश्रेष्ठ बल है। निसन्देह, यह आत्मा भी ब्रह्मचर्यमय ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान होने पर यह शरीर में देर तक रहता है।

ब्रह्मचर्यं नमस्कृत्य, साध्यं साधयाम्यहम्।
सर्व लक्षण हीनत्वं, हन्यते ब्रह्मचर्यया ॥ ११ ॥

ब्रह्मचर्य को नमस्कार करके, अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत के अनुष्ठान के प्रभाव से ही मैं असाध्य रोगियों को भी उत्तम स्वास्थ्य सम्पन्न बना देता हूँ और असाध्य कार्यों को भी साध्य कर दिखाता हूँ। ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान करने से सभी प्रकार के दोष दूर हो जाते हैं।

कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन-त्यागो, ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥ १२ ॥

शरीर, मन और वचन से सभी अवस्थाओं में एवं सब स्थानों में प्रत्येक प्रकार के मैथुन के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

समदोषः समाग्निश्च, समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्याभिधीयते ॥ १३ ॥

जिस के तीनों दोष अर्थात् वात, कफ और पित्त, अग्नि अर्थात् भूख लगाने वाली शक्ति=जठराग्नि, धातु अर्थात् रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य तथा मल और मूत्र सम=उचित अवस्था में हों, जिसका

आत्मा प्रसन्न, मन शान्त, एवं इन्द्रियाँ सबल, सुडौल तथा सुन्दर हों उस मनुष्य को स्वस्थ कहते हैं।

दिनचर्यां निशाचर्यां, ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥ १४ ॥

दिनचर्या अर्थात् उत्तम नियमों के अनुसार दिन में करने के सब कामों को, एवमेव रात्रिचर्या अर्थात् रात्रि-काल में करने के सब कामों को, ऋतुचर्या अर्थात् छः ऋतुओं में प्रत्येक ऋतु के अनुसार भोजन-छादन और विहार आदि के सब कामों को विधिपूर्वक करने से ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। जो इससे विपरीत आचरण करता है, उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

जातमात्रं न यः शत्रुं, व्याधिं च प्रशमं नयेत्।
अति पुष्टांगयुक्तोऽपि, स पश्चात् तेन हन्यते ॥ १५ ॥

जो मनुष्य शत्रु और रोग को, उस के उत्पन्न होते ही, नष्ट करने का यथोचित उपाय नहीं करता, वह बहुत बलवान् होने पर भी उस शत्रु वा रोग के द्वारा मारा जाता है।

एकः शयीत सर्वत्र, न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो, हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १६ ॥

मनुष्य को सदैव सर्वत्र अकेला ही सोना चाहिये। कभी किसी भी अवस्था में वीर्य को स्खलित न करना चाहिये। जो काम-वासना के वश में होकर और जान-बूझ कर अपने वीर्य को नष्ट करते हैं, वे तो अपने अपने जीवन के मुख्य उद्देश्य को ही नष्ट करते हैं।

कामक्रोधौ तथा लोभं, स्वादु शृङ्गारकौतुके।
अतिनिद्रातिसेवे च, विद्यार्थी ह्याष्ट वर्जयेत् ॥ १७ ॥

प्रत्येक विद्यार्थी को उचित है कि वह प्रयत्नपूर्वक इन आठ दुर्गुणों का परित्याग कर दे—१. काम, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. स्वाद, ५ शृङ्गार, ६. कौतुक अर्थात् चपलता और व्यर्थ की ताक-झाँक, अनाधिकार चेष्टा, ७. अतिनिद्रा तथा ८. अतिसेवा अर्थात् अधिक परिश्रम।

स्मरणं कीर्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥ १८ ॥

एतन्मैथुनमष्टांगं, प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम् ।। १६ ।।

स्मरण, कीर्तन [वार्ता, चर्चा], अवलोकन, गुप्तसम्भाषण, संकल्प = चिन्तन, प्रयत्न और क्रिया-निवृत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन हैं, ऐसा विद्वानों का कथन है। इनसे विपरीत आठ प्रकार का ही ब्रह्मचर्य भी होता है। इन आठ प्रकार के मैथुनों से बच कर रहना ही ब्रह्मचर्य-व्रत का परिपालन है।

वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुप्तब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममावसेत् ।। २० ।।

अगोपांग सहित चारों वेदों को पढ़ कर अथवा तीन वेदों, दो वेदों या एक ही वेद को पढ़ कर एवं अखण्ड ब्रह्मचर्य का परिपालन करने के पश्चात् ही मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं, कुक्षिस्थः स विपद्यते ।। २१ ।।
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्त बालायाँ, गर्भाधानं न कारयेत् ।। २२ ।।

यदि सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष गर्भाधान करता है, तो वह पेट में नष्ट हो जाता है। यदि उस गर्भ से सन्तान उत्पन्न हो भी जाती है, तो वह अधिक काल तक जीवित नहीं रहती, यदि जीवित रह भी जाये, तो वह बहुत दुर्बल इन्द्रियों वाली होती है। इस लिये कम आयु वाली स्त्री में कोई भी गर्भ का आधान न करे। न ही कोई पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष गर्भाधान करे।

आहारस्य परं धाम, शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षयेयस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ।। २३ ।।

मनुष्य के भोजन से तैयार होने वाला सर्वश्रेष्ठ तत्व तो वीर्य ही है। अतः सभी मनुष्यों को प्रयत्नपूर्वक अपने अपने वीर्य का संरक्षण अवश्य ही करना चाहिये। यदि वीर्य का क्षय होने लगता है, तब तो नाना प्रकार के भयंकर रोग आकर मनुष्य को दबा लेते हैं। ऐसा होने पर वह शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास भी बन जाता है।

रसाद्रक्तं ततो माँसं, मांसाद्-मेदः प्रजायते ।
मेदादस्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसम्भवः ॥ २४ ॥

भोजन का परिपाक होने पर उस से रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है।

ओजस्तु तेजो धातुनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
यन्नाशे नियतं नाशो, यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम् ॥ २५ ॥

जिस को "ओज" कहते हैं, वह तो रस से आरम्भ करके वीर्य पर्यन्त सब धातुओं का तेज ही है। ओज के नष्ट होने पर तो कोई भी जीवित नहीं रह सकता। जब तक ओज का संरक्षण और संवर्धन होता रहता है, तब तक ही जीवन सुरक्षित रहता है।

ओजः सर्व शरीरस्थं, स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम् ।
सोमात्मकं शरीरस्य, बलपुष्टिकरं मतम् ॥ २६ ॥

ओज का निवास मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में होता है। "ओज" यह एक चिकना, शीतल, स्थिर और उज्ज्वल तत्त्व है। मनुष्य के तेज, बल और पोषण को बढ़ाने वाला "सोम" नामक तत्व यह ओज ही तो है।

धातौ रसदौ मज्जान्ते, प्रत्येक क्रमतो रसः ।
अहोरात्रात् स्वयं पंच, सार्धं दण्डं च तिष्ठति ॥ २७ ॥

रस से लेकर मज्जा तक प्रत्येक धातु पाँच दिन-रात और डेढ घड़ी तक अपनी अपनी अवस्था से रहते हैं। फिर अनुक्रम के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् चालीस दिन-रात और नौ घड़ी में रस से वीर्य की उत्पत्ति होती है।

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बल पुष्टिकरं स्मृतम् ।
गर्भबीजं वपुः सारो, जीवस्याश्रयमुत्तमम् ॥ २८ ॥

"वीर्य" यह एक श्वेत वर्ण का चिकना-सा पदार्थ है जोकि बल और पुष्टि का देने वाला, गर्भ का बीज और शरीर का सर्वश्रेष्ठ अंश है। यही शरीर में जीव के निवास में प्रधान सहायक भी है।

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढ़श्चेक्षौ रसो यथा।
एवंहि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥ २९ ॥

जैसे दूध में घी और ईख में रस गुप्त रूप में रहते हैं, उसी प्रकार प्राणियों के शरीरों में वीर्य भी गुप्त रीति से रहता है।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ३० ॥

मनुष्य का वीर्य उसके चित्त = मन के अर्थात् संकल्प-शक्ति के आधीन रहता है और उसका जीवन इस वीर्य के ही आधीन रहता है। इस लिये प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि प्रयत्नपूर्वक अपने वीर्य को सुरक्षित रखे।

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसमेभ्यो, बीज चास्य विनश्यति ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य वनस्पति के कच्चे फलों को तोड़ लेता है, वह उनसे रस को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके साथ ही उस वनस्पति का बीज भी नष्ट हो जाता है। मानव जीवन के विषय में भी यह सिद्धान्त इसी प्रकार लागू होता है।

वेश्यासौ मदन-ज्वाला रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते, यौवनानि धनानि च ॥ ३२ ॥

जिसको "वेश्या" कहते हैं, वह तो काम-विकार की आग ही है। यह आग विशेषतया रूप के ईंधन से जलाई जाती है। कामी पुरुष इस वेश्या-रूपी आग में अपने अपने यौवन और धन को भस्म करके नष्ट-भ्रष्ट होते रहते हैं।

न हीदृशमनायुष्यं, लोके किंचन दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह, परदारोपसेवनम् ॥ ३३ ॥

इस संसार में मनुष्य की आयु और बल को नष्ट करने वाला ऐसा और कोई भी कारण नहीं है, जैसा कि पराई स्त्री का उपसेवन है।

पर-नारी पैनी छुरी, कोई न लावे अंग।
रावण के दस सिर गये, पर-नारी के संग ॥

अतिस्त्रीसम्प्रयोगाच्च, रक्षेदात्मानमात्मवान्।
क्रीड़ायामपि मेधावी, हितार्थी परिवर्जयेत् ॥ ३४ ॥

प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को उचित है कि वह स्त्री-प्रसंग से बच कर रहे। स्त्री-विहार में भी अति-प्रसंग को त्याग देना चाहिये, अथवा अपना कल्याण चाहने वाले बुद्धिमानों को तो खेल-कूद में भी स्त्रियों के साथ होने वाले संसर्गों से बचना ही चाहिये।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥ ३५ ॥

मनुष्य की काम-वासनाओं का प्रशमन उपभोग द्वारा तो कभी हो ही नहीं सकता। उपभोग से तो उन वासनाओं की प्रचण्डता और भी अधिकाधिक बढ़ती रहती है। जैसे कि आहुतियां देने और ईंधन डालने से आग की प्रचण्डता बढ़ती ही रहती है।

ऋषयो दीर्घ सन्ध्यात्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ३६ ॥

ऋषियों ने दीर्घ-काल-व्यापी सन्ध्या के द्वारा ही दीर्घ आयु, उत्तम बुद्धि, यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्म-तेज की प्राप्ति की थी।

आत्मवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः ॥ ३७ ॥

जो पराई स्त्री को माता के समान पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और सभी प्राणियों को अपने तुल्य समझता है, वही सच्चा पण्डित है।

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृह।
निर्ममो निरहंकारः, स शान्तिमधि गच्छति ॥ ३८ ॥

जो पवित्र आचार-विचार वाला मनुष्य सभी प्रकार की कामनाओं को पूर्णतया त्याग कर और ममता एवं अहंकार-रहित तथा स्पृहा-रहित होकर आचरण करता है, वही शान्ति को प्राप्त करता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के आदेश

१—मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् चार सौ वर्ष तक भी सुख से जी सकता है।

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदविषय विचार

२—स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को पर-स्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के संग खोते हैं, वे महामूर्ख होते हैं। क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के बिना अन्यत्र बीज नहीं बोते। जो कि साधारण बीज और मूर्ख का ऐसा वर्तमान है, तो जो सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर रूप वृक्ष को कु-क्षेत्र में बोता है, वह महामूर्ख कहाता है। क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

३—जिस वीर्य से ऐसे-ऐसे महात्मा और महाशयों के शरीर उत्पन्न होते हैं, उसको वेश्यादि दुष्ट क्षेत्र में बोना वा दुष्ट बीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना महापाप का काम है।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

४—आयु, वीर्यादि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्ति पूर्वक ही भोजन और वस्त्र का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से आयु को सदा बढ़ाओ।

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोक्त धर्म

५—जो गृहस्थ अपनी ही स्त्री से प्रसन्न, निषिद्ध रात्रियों में स्त्री से पृथक रहता है, और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

६—उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। जो माता, पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानो अपनी सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। और जो सन्तानों या शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपनी सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोष युक्त और ताड़ना से गुण युक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़न से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या और द्वेष से ताड़न न करें; किन्तु ऊपर से भय प्रदान और भीतर से कृपा दृष्टि रखें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २

७—जो अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के बिना वीर्य दान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के बिना विवाह करना है, यह व्यभिचार कहाता है। उसको छोड़ देने का नाम व्यभिचार त्याग है।

— आर्योद्देश्य रत्नमाला

८—देखो! जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, उसको आरोग्य बुद्धि, बल और पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण की यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग सदा पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २

९—जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महा कुलक्षणी होता है। और जिसको प्रमेह होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि और उत्साह साहस, धैर्य, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २

१०—जो तुम लोग सुशिक्षित और विद्या के ग्रहण और वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे, तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय

प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों को करने वाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्या ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २

११—माता-पिता और आचार्य अपनी सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन-उन का ग्रहण करो। और जो-जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो। जो-जो सत्य जानें, उन-उनका प्रकाश करें। किसी पाखंडी और दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करें। और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिये माता-पिता आचार्य आज्ञा देवें, उस-उसका यथेष्ट पालन करें। जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन, छादन और व्यवहार करें और करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो उस से कुछ न्यून भोजन करें और मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २

१२—जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त जितेन्द्रिय और जिनका वीर्य अधः स्खलित कभी न हो, उन्हीं का ब्रह्मचर्य सच्चा होता है।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

१३—जिस देश में इस प्रकार विवाह की श्रेष्ठ विधि और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य, विद्या-ग्रहण रहित, बाल्यावस्था वाले और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य और विद्या के ग्रहण पूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से ही बिगाड़ होता है।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

१४—ब्रह्मचर्य सेवन से वह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करें, उपस्थ-इन्द्रिय का संयम रखें, वेदादि शास्त्रों को पढ़ते पढ़ाते रहें, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बने रहें और पर-स्त्री-गमनादि व्यभिचार को मन, वचन, कर्म से त्याग देवें, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता

है। एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का, उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।

— ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, उपासना विषय

१५—जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान होता है।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

१६—ब्रह्मचर्य जोकि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम होते हैं और बिगड़ने से बिगड़ जाते हैं।

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वर्णाश्रम विषय

१७—अड़तालीसवें वर्ष से आगे पुरुष और चौबीसवें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये, परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुषों और स्त्रियों के लिये है। और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरण-पर्यन्त ब्रह्म-चारी रह सकें, तो भले ही रहें, परन्तु यह काम पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रख सके।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

१८—ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, माँस, गंध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा, अङ्गों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थ-इन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छत्र-धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गान और बाजा बजाना, द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरों की हानि, आदि कुकर्मों को छोड़ देवें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

१९—सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्य स्खलित कभी न करे। जो कामना से वीर्य स्खलित करदे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश कर दिया।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२०—जहाँ विषयों वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहाँ ब्रह्मचारी कभी खड़े भी न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग,

वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करने हारे नशे के पदार्थ हों, उनको ग्रहण कभी न करें।

—व्यवहारभानु

२१—जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की बढ़ती होवे और अविद्या आदि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।

—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश

२२—विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहियें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२३—पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर न रहें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२४—सब को तुल्य वस्त्र, तुल्य खान-पान, और तुल्य आसन दिये जायें। चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो हों, चाहे दरिद्र की सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२५—उनके माता-पिता अपनी सन्तानों से वा सन्तान माता-पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या पढ़ने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जावें, तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२६—जब आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२७—जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्म-

चारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२८—जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें किन्तु जो पूर्ण विद्या युक्त और धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने के योग्य हैं।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

२९—आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द, अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा, छल-कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सब का सुख बढ़ाने में जो तत्पर महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेशक, सब का हितैषी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय होवे।

—संस्कार-विधि, उपनयन संस्कार

३०—ऐसा राज-नियम अथवा जाति-नियम होना चाहिये कि पाँचवें वा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के वा लड़कियों को अपने घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे। जो न भेजे तो वह दण्डनीय हो।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३

३१—जो नियम पूर्वक, प्रसिद्धि से और अपनी इच्छापूर्वक, पाणिग्रहण करना है, वह विवाह कहलाता है।

—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश

३२—यथावत् ब्रह्मचर्य में आचार्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों, तीन वा दो अथवा एक वेद को सांगोपांग पढ़के, जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष या स्त्री गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

३३—कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जो प्रतिमास रजोदर्शन होता है सो तीन वर्ष में छत्तीस बार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं। —सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४

३४—स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होनी चाहिये।

—संस्कार-विधि, विवाह प्रकरण

३५—इस लिये यह निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये, क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का मेल दूषण-कारक होता है।

—संस्कार-विधि, विवाह प्रकरण

३६—सदा स्त्री-पुरुष दस बजे शयन और रात्रि कें तीसरे प्रहर वा चार बजे उठकर प्रथम हृदय में ईश्वर का चिन्तन करके धर्म, अर्थ का विचार किया करें। और धर्म वा अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें। किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार, विहार, औषध-सेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्तव्य-कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना ही किया करें, कि जिससे परमेश्वर की कृपादृष्टि से और सहायता से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके।

—संस्कार-विधि, गृहस्थाश्रम प्रकरण

३७—स्त्री लोग आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरु गेह में वास आदि संस्कार होते थे।

—उपदेश-मंजरी

३८—ब्रह्मचर्य पूर्ण करके गृहस्थ हो के वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे।

—संस्कार-विधि, विवाह संस्कार

३९—जो पूर्ण विद्वान, जितेन्द्रिय, भोग की कामना से रहित, परोपक करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ले लेवे

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास

४०—जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत को सत्य शिक्षा करके जित उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्य आश्रमी नहीं कर सकता।

—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास

४१—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे सुख को प्राप्त होने वाले विद्वान् लो प्रथम ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके प्राणायाम और विद्याध्य जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इ कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की इच्छा करो।

—संस्कार-विधि, वानप्रस्थ-संस्का

४२—जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् निय धारण करता है, तब उस व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप दीक्षा को प्राप्त होता है ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम पालन से सत्कार पूर्वक धनादि को प्राप्त होत है। उस सत्कार से सत्य धारण में प्रीति को प्राप्त होता है। और सत्य धार्मिकजनों में प्रीति से सत्यविज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को प्राप्त होता है

—संस्कार-विधि, वानप्रस्थ-संस्कार

४३—हम स्त्री पुरुष, सेवक स्वामी, मित्र मित्र, पिता पुत्रादि मिल के हम दोनों प्रीति से एक दूसरे की रक्षा करें और प्रीति से मिल के एक दूसरे के पराक्रम को बढ़ती सदा किया करें। हमारा पढ़ा-पढ़ाया अति प्रकाशमान् होवे और हम एक दूसरु से कभी विद्वेष विरोध न करें। किन्तु सदा मित्र-भाव और एक दूसरे क साथ सत्य प्रेम से वर्ता करें, सब गृहस्थों के सद् व्यव-हारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें।

—संस्कार-विधि, गृहस्थाश्रम प्रकरण

* ओ३म् *

ब्रह्मचर्य-प्रदीप

—*—

१ ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे,
तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च,
स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति ॥

अथर्व० ११। ५। १

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) आकाश मण्डल की दोनों पराकाष्ठाओं को, अभ्युदय और निःश्रेयस् को (इष्णन्) अनुकूल बनाता हुआ, चाहता हुआ, (चरति) विचरता है। (तस्मिन्) उसमें, उसके विषय में (देवाः) विद्वान् लोग, इन्द्रियाँ, पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश नामक पंच महाभूत (संमनसः) अनुकूल मन वाले, शुभ विचार वाले, सुसमन्वित और सन्तुलित स्थिति वाले (भवन्ति) होते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (पृथिवीम्) पृथिवी को (च) और (दिवम्) द्युलोक को (दाधार) धारण करता है। (सः) वह (तपसा) अपने तप, त्याग और बलिदान के द्वारा (आचार्यम्) ईश्वर को, आचार्य को, गुरुजन-समूह को (पिपर्त्ति) प्रसन्न करता है, पुष्ट करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी अभ्युदय और निःश्रेयस् अर्थात् लौकिक उन्नति और मोक्ष प्राप्ति दोनों की ही इच्छा से ब्रह्मचर्य-आश्रम के कठोर कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ विद्या आदि शुभ गुणों को धारण कर रहा है। गुरुजन भी उसके विषय में शुभ विचार रखते हैं और वे प्रेमपूर्वक ब्रह्मचारी को

विद्या आदि शुभ गुणों का दान दे रहे हैं। ब्रह्मचारियों की इन्द्रियाँ नीरोग, वशवर्तिनी और सबल एवं सुडोल होती हैं। पंचमहाभूत भी ब्रह्मचारियों के वश में रहते हैं। यह ब्रह्मचारि वर्ग ही संसार की भावी आशाओं का आधार है। श्रेष्ठ ब्रह्मचारी अपने शुभ आचरणों के द्वारा ईश्वर, आचार्य और माता-पिता आदि गुरुजनों को प्रसन्न करते हैं।

प्रवचन

१—वेद का "ब्रह्मचर्य" शब्द लोक में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी इस शब्द का व्यवहार बहुत अधिक होता है। ब्रह्म विषयक आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य शब्द के अर्थ बहुत अधिक गम्भीर और सुविस्तृत हैं। परन्तु आजकल ब्रह्मचर्य शब्द का व्यवहार उसके सम्पूर्ण और व्यापक अर्थों में बहुत ही कम होता है। यह तथ्य खेदजनक भी है, आश्चर्योत्पादक भी।

२—आजकल तो एक ही अर्थ ब्रह्मचर्य शब्द का अधिक प्रसिद्ध हो रहा है। और वह है—वीर्यरक्षा। संयम, दमन, इन्द्रिय-निग्रह, उर्ध्वरेता होना, अमोघवीर्य बनना। इन शब्दों और बातों का तात्पर्य मुख्यतया वीर्यरक्षा ही है। इस वीर्यरक्षा के अर्थ में ब्रह्मचर्य शब्द एक प्रकार से रूढ़-सा हो गया है।

३—निःसन्देह वीर्यरक्षा का भाव भी ब्रह्मचर्य शब्द में समाविष्ट है; परन्तु यह ब्रह्मचर्य शब्द का सम्पूर्ण अथवा मुख्य अर्थ नहीं है। ब्रह्मचर्य का अर्थ-विस्तार इससे बहुत अधिक है। हमें इस शब्द के सम्पूर्ण अर्थ-विस्तार को जानना चाहिये, और ब्रह्मचर्य का प्रचार एवं व्यवहार हमें इसके सभी अर्थों में करना चाहिये।

४—ईश्वर, वेद, ज्ञान, आत्मा, प्रकृति, यज्ञ, शुद्धाचरण, महत्व, विस्तार, बल, जल, मोक्ष, धन, आदि-आदि "ब्रह्म" शब्द के अनेक अर्थ वेद में और संस्कृत-साहित्य में होते हैं। जितने भी आचरण ब्रह्म सम्बन्धी हैं, उन सभी का ग्रहण इस ब्रह्मचर्य शब्द से होता है। ईश्वरोपासना ब्रह्मचर्य है। वेद-पाठ ब्रह्मचर्य है। वेद-प्रचार ब्रह्मचर्य है। पंच महाभूतों का विचार, उनकी खोज, स्वरूप निर्णय और भौतिक तत्वों के न्यूनाधिक मात्रा में सम्मिश्रण से

होने वाले रासायनिक परिणामों का अध्ययन ब्रह्मचर्य है। ज्ञान, विज्ञान और शाखाओं, प्रशाखाओं सहित सम्पूर्ण विद्याओं तथा कलाओं की प्राप्ति, अभ्यास और उन-उनका व्यवहार भी ब्रह्मचर्य है।

५—आत्मा की शक्तियों का विचार, विकास, प्रदीपन और साक्षात्कार भी ब्रह्मचर्य है। निश्चित योजनाओं के अनुसार विशेष-विशेष उपयोगी कार्यों का अनुष्ठान, यज्ञों का संविधान और विचार भी ब्रह्मचर्य है। सम्पूर्ण शुभकर्म ब्रह्मचर्य है। आत्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक सफलताओं एवं महानताओं की उत्तम साधनों के द्वारा प्राप्ति को भी ब्रह्मचर्य ही कहेंगे। इस प्रकार सभी शुभ और रचनात्मक व्यवहारों का ग्रहण इस एक ही ब्रह्मचर्य शब्द से होता है। यह शब्द मर्यादा-बद्ध उत्तम जीवन का सूचक है।

६—जो व्यक्ति किसी एक या अधिक प्रकार के ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता है, वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी केवल बालक ही नहीं होते, बड़े-बूढ़े भी ब्रह्मचारी होते हैं और हो सकते हैं। ब्रह्मचारी एक समस्त-पद है। ब्रह्म और चारी इन दो शब्दों के मेल से यह ब्रह्मचारी शब्द बना है। ब्रह्म शब्द का अर्थ संक्षेप में ऊपर दर्शाया जा चुका है। चारी आचरण करने वाले को कहते हैं। ब्रह्म को मन्तव्य के रूप में स्वीकार करने मात्र से ही किसी का ब्रह्मचारी होना सम्भव नहीं है। सतत उद्योगी और सच्चे कर्मयोगी जन ही ब्रह्मचारी होने और कहलाने की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। सदाचार की महत्ता तथा पराकाष्ठा का भाव इस चारी शब्द से ध्वनित होता है।

७—ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान मनसा, वाचा कर्मणा, पूर्ण श्रद्धा, विधि-विधान, सात्विकता, सत्यता एवं संलग्नता के साथ किया जाये। ब्रह्मचारी के संकल्पों में, शब्दों, चेष्टाओं और कार्यों में पूर्ण एवं सुसमन्वित एकरूपता का होना बहुत आवश्यक है। अभेद हो, भेद न हो। विरोध न हो, विकार न हो। त्रुटि न हो, प्रमाद न हो। ब्रह्मचर्य के किसी छोटे नियम को भी न तोड़ा जाये। किसी व्यक्ति का ब्रह्मचारी होना निस्सन्देह एक बड़े गौरव की बात है। उस व्यक्ति के लिये भी, उसके माता-पिता, गुरुजनों और उसके देश एवं देशवासियों के लिये भी।

८—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है, वह धर्म है। यह धर्म ही ब्रह्मचारी के जीवन का परम लक्ष्य है। वह लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार की उन्नति के लिये साधनामय जीवन को स्वीकारता है। उसके जप, तप, व्रत, अनुष्ठान, शिक्षा, दीक्षा, शोध, संस्कार, आविष्कार विचार और व्यवहार का अन्तिम लक्ष्य सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति ही तो है। वह मानवता के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है।

९—अपने आदर्श की पूर्ति के लिये ब्रह्मचारी संसार के सभी श्रेष्ठ पुरुषों से और प्रकृति की सम्पूर्ण शक्तियों से सहयोग तथा सहायता की आशा करता है। उसकी शिक्षा-दीक्षा और योजनाओं का ध्येय उत्तम भी है, और सर्वहितकारी भी। उसके संकल्पों के विषय में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। संसार के सभी नर-नारी प्रसन्नता पूर्वक उसके जीवन-विकास में अपना-अपना सहयोग दे रहे हैं और पुलकित एवं आशान्वित होकर उसके जीवन के शुभ परिणामों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कैसा मधुर है यह आशा और उल्लासमय जीवन !

१०—प्रत्येक ब्रह्मचारी अपने-अपने माता-पिता, गुरुजनों, इष्ट-मित्रों, सम्बन्धियों, ग्राम, नगर और देशवासियों आदि के लिये एक आशाबिन्दु के समान होता है। वह उनकी आँखों का तारा है, हृदय का आनन्द और जीवन का सहारा है। ब्रह्मचारी के दर्शन मात्र से ही सज्जन-समुदायों में हर्ष और आनन्दातिरेक की वृद्धि होने लगती है। इसके साथ ही दुर्जनों एवं दुरितों का अन्त भी आरम्भ हो जाता है।

११—ब्रह्मचारी के स्वागत-सत्कार के आयोजन उसके गर्भवास से भी बहुत पहिले ही आरम्भ हो जाते हैं। माता-पिता उत्तम सन्तान की कामना करते हैं। संस्कारों में वेदपाठियों, और विद्वान् ब्राह्मणों के आशीर्वाद गूंज उठते हैं। लालन, पालन, क्रीड़ा और प्रशिक्षा के सभी संस्कार आशीर्वादों की शुभ-ध्वनि में ही एक के पश्चात् दूसरी सफलता को प्राप्त करते हैं।

१२—गुरुजन शरीर-सौष्ठव और विद्यादि शुभ गुणों में जब अपने शिष्य वर्ग को अपने से भी बहुत बढ़ा-चढ़ा देखते हैं, तब हर्ष और उत्साह से फूले नहीं समाते। उनका रोम-रोम हर्षित होकर नाच उठता है। अपने परिश्रम

का मनचाहा पुरस्कार प्राप्त करके उनके आनन्द का भला क्या ठिकाना ? गुरुजन सम्पूर्ण रहस्यों सहित अपना-अपना ज्ञान-कोष ब्रह्मचारियों को सौंप देते हैं। माता-पिता भी त्याग, तप और बलिदान का परिचय देते हुए अपना-अपना वैभव तथा स्वत्व प्रदान करके ब्रह्मचारियों को अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। इतना ही नहीं, प्रकृति नटी भी उनके लिये अनुकूलता प्रदर्शित करती हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश भी आज्ञानुवर्ती सेवकों के समान ब्रह्मचारियों की सेवा में प्रस्तुत रहते हैं।

१३—धन्य हैं, वे नर-नारी जो ब्रह्मचारी हैं ; और धन्य हैं, वे जिनको सन्तान वा शिष्यों के रूप में ब्रह्मचारियों की प्राप्ति होती है। धन्य हैं, वे देश, वे जातियाँ, वे राष्ट्र, जिन में ब्रह्मचारिगण बहुत संख्या में पाये जाते हैं। ब्रह्मचारियों के अभाव में तो सभी का सब कुछ विनाश को प्राप्त हो जाता है, धर्म, कर्म, संस्कृति, साहित्य सब कुछ का उन्मूलन हो जाता है। वंश नष्ट हो जाते हैं।

१४—अपने आचार्यों और माता-पिता आदि गुरुजनों की प्रसन्नता का विचार सभी ब्रह्मचारियों को सदा ही अपने सम्मुख रखना चाहिये। आचार्य शब्द से ही ईश्वर का भी ग्रहण होता है। क्योंकि सब सत्य विद्याओं का आदि-मूल होने से ईश्वर तो आचार्यों का भी आचार्य है।

१५—ब्रह्मचारियों की उन्नति तथा सफलता का रहस्य उनकी दृढ़ संकल्प-शक्ति में निहित है। इस संकल्प-शक्ति को ध्यान में रख कर ही वेद मन्त्र में "इष्णन्" प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है। ब्रह्मचारियों के संकल्प शुभ भी होते हैं, प्रबल भी।

१६—ब्रह्मचारी संसार को देखता है। वह सूक्ष्म रूप में प्रकृति-निरीक्षण करता है। सूक्ष्म तत्व-दर्शन की पद्धतियों को अपनाता है। उसकी नये-नये व्रत-ग्रहण और महान् संकल्पों की नूतन परम्परायें आरम्भ हो जाती हैं। मैं ऊपर उठूँगा, आगे बढ़ूँगा, विजय करूँगा, प्रसन्नता फैलाऊँगा, निर्भय रहूँगा। इस प्रकार वह नित्य-प्रति उत्तमोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थों को प्राप्त करता हुआ संसार के सुख-समुदाय को बढ़ाता रहता है।

१७—चन्द्र और सूर्य ब्रह्मचारी को नियम पालन का उपदेश देते हैं। पृथिवी उसे सहनशीलता सिखाती है। वायु उसकी प्रगतियों का प्रेरक है। फूल उसे हँसना सिखाते हैं। मेघ उसे धर्म-मेघ बन कर संसार को आनन्दामृत से तृप्त करने की शिक्षा देते हैं। प्रतिकूलताओं में भी वह दृढ़ और सत्यनिष्ठ रहता है। समय आता है, अनुकूलतायें और सफलतायें पग-पग पर उसका स्वागत करती है।

सः आचार्यं तपसा पिपर्त्ति।

वह अपने तप से आचार्य को तृप्त कर देता है, धरती को तृप्त कर देता है, माता, पिता, कुल-परम्परा, समाज, नगर और राष्ट्र को तृप्त कर देता है।

---

२ बुढ़ापे का सहारा

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः
पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिशत्
त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त्स
देवांस्तपसा पिपर्त्ति ॥

अथर्व ११। ५। २

शब्दार्थ :—(सर्वे) सब (पितरः) माता-पिता अध्यापक आदि पालक गण, क्षत्रिय वर्ग (देवजनाः) दिव्यजन, विविध कलाओं में पारंगत कलाकार, शूद्र वर्ग, (पृथग्) असाधारण योग्यता वाले (देवाः) देव, पंचमहाभूत, ब्राह्मण वर्ग, (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी का (अनुसंयन्ति) अनुगमन करते हैं। (गन्धर्वाः) गायक, वैश्य-वर्ग, कृषक-बन्धु (त्रियस्त्रिशत्) तैंत्तीस देवता, (त्रिशता षट्) तीन

साठ दिन (सहस्राः) सहस्रों दिव्य वर्ष, गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ एवं जन वर्ग आदि (एनम्) इस ब्रह्मचारी के (अनु आयन्) पीछे-पीछे चलते हैं। (स) वह ब्रह्मचारी (सर्वान्) सब (देवान्) देवों को (तपसा), अपने तप से शुभ कर्मों द्वारा (पिपर्त्ति) पुष्ट करता है, प्रसन्न करता है।

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी विद्यादि शुभ गुणों में विशेष योग्यता को प्राप्त कर लेता है, तब माता-पिता गुरु आदि अभिभावक गण, बन्धु-बान्धव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चारों वर्ण, उच्च कोटि के गायक और विविध प्रकार की कलाओं में पारंगत कलाकार आदि, सभी उसका विशेष आदर-मान किया करते हैं। प्राकृतिक शक्तियों और देश, काल आदि की अनुकूलतायें भी उसको प्राप्त होती हैं और उत्तम व्यवहार के द्वारा वह उन सब को सन्तुष्ट करता है। वह सर्वत्र सफलता प्राप्त करता है एवं अपने आपको सुयोग्य पात्र तथा अधिकारी सिद्ध करता है। माननीय जनों का सन्मान, संसार के सुख की वृद्धि और विद्यादि शुभ गुणों का प्रसार सभी ब्रह्मचारियों का मुख्य धर्म है।

प्रवचन

१—विचार-विमर्श के पश्चात माता और पिता बच्चे को लेकर गुरु के घर में पहुंचे और वहाँ उन्होंने अपनी गोदी का लाल गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया। वे बोले—"लो भगवन्! अब इसे आप सम्भालो। विद्या-दान द्वारा इसका कल्याण करो। इसे देश, धर्म और प्राणि-मात्र की सेवा की दीक्षा दो। अब आप जानें और आपका काम।"

२—ब्रह्मचारी दिन-प्रति दिन नये-नये ज्ञान को प्राप्त करता हुआ उन्नति कर रहा है। प्रत्येक नया दिन उसके ज्ञान में विशेष वृद्धि करने वाला सिद्ध हो रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उसे अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभाव की शिक्षा दे रहे हैं। गन्धर्व अर्थात् गायक गण उसे स्वर, ताल, लय तथा छन्द आदि का उत्तम ज्ञान प्रदान करके उत्तम गायक बना रहे हैं। दार्शनिक उसे मैं, तू, यह और वह का मर्म समझा रहे हैं। साहित्य-मर्मज्ञ लक्षणा, व्यंजना, रस और अलंकार का विवेचन कर रहे हैं। वैयाकरण

विशाल-शब्द-शास्त्र को हिला-हिलाकर उसके ज्ञान-कोष में समाविष्ट करने का यत्न कर रहे हैं।

३—गुरु की योजनाओं के अनुसार शिष्यगण प्रकृति का निरीक्षण करते हैं, देश भ्रमण करते हैं। प्रयोगशालाओं में सूक्ष्म तत्वों का विश्लेषण और दिव्यकर्मों का अनुष्ठान करते हैं। ज्ञान और विज्ञान का एक सागर-सा सब ओर उमड़ पड़ा है। वह सहस्रों धाराओं में लहराता हुआ ब्रह्मचारी की तरफ बढ़ रहा है। चिन्ता की कोई बात नहीं। वह तो ब्रह्मचारी के सब ओर खेल-सा रहा है। ब्रह्मचारी भी यथामति, यथारुचि, सभी गुरुओं से ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, उन-उन को सन्तुष्ट कर रहा है। साथ ही विनम्र होकर वह सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता एवं पात्रता को भी प्रकाशित कर रहा है। इन सब के महान दान को ग्रहण करना, अपनाना और आत्मसात करना, यही तो उसका मुख्य कर्त्तव्य है।

४—ब्रह्मचारी की ज्ञान-बुभुक्षा चमक उठी है। अब वह सभी बातों की गहराई में घुसने लगा है। उपरि-उपरि स्थूल विवरण अब उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते। ज्ञान के परिपक्व क्षेत्र में उसका प्रवेश हो चुका है। अब उच्च-कोटि के विद्वानों और विशेषज्ञों से उसकी लम्बी-लम्बी बातें होने लगी हैं। कभी-कभी विचार-संघर्ष में गर्मी भी आ जाती है। दोनों ओर से तर्क के तीर चलाये जाते हैं।

५—भूल-सुधार होता है। तत्व-निर्णय होता है, सिद्धान्त-निश्चय होता है। फिर एक दिन आता है—गुरुजन एकत्रित होकर शिष्य की योग्यता को देखा करते हैं और उसके बौद्धिक विकास एवं उसकी क्षमताओं को देखकर पूर्ण सन्तोष प्रगट करते हैं। ऐसा होने पर वे शिष्य को मानव-जीवन की उच्चतर भूमिकाओं में प्रविष्ट होने के आदेश और आशीर्वाद भी दे देते हैं। इसे "समावर्तन" कहते हैं।

६—कल का बालक आज विद्या-व्रत-स्नातक होकर संसार के सामने आया है। माँ सरस्वती के श्रेष्ठ पुत्रों में अब उसकी गणना होने लगी है। अब तो वह स्वयं भी "देव" पदवी को प्राप्त कर चुका है और देव कोटि में प्रविष्ट हो चुका है। अब तो वह स्वयं भी अपने विशेष मान-सम्मान और अपनी

असाधारण स्थिति एवं ऊँची मर्यादा का स्वामी है। उसका ज्ञान-विज्ञान, उसका शारीरिक और बौद्धिक विकास एवं उसका यज्ञानुष्ठान स्वार्थ अथवा प्रदर्शन की कालिमा से कलंकित नहीं है। गुरु ने उसे आदेश देकर भेजा है कि—"सत्यं वद। धर्मं चर।" वह सर्वहित का व्रत ग्रहण करके प्रेय-मार्ग का यात्री बना है। कुछ काल के पश्चात् वह अवश्य ही अपनी योजनाओं के अनुसार एक नई यात्रा का आरम्भ अर्थात् श्रेय-मार्ग का अनुगमन करेगा।

७—हे संसार के लोगो! इस ब्रह्मचारी के सम्पर्क का जितना लाभ तुम प्राप्त कर सको, कर लो। परन्तु; देखना, न तो इसकी लोकोपयोगी प्रगतियों में बाधा देना, और न ही इसको प्रलोभन-पाश में फंसाने का प्रयास करना। यदि तुम ऐसा करोगे, तो स्मरण रखो—अन्त में हानि तुम्हारी ही होगी। अपनी करनी पर तुम्हें पछताना और लज्जित होना पड़ेगा। सज्जनों को देखकर प्रसन्न होना और बुरों की उपेक्षा करना, यह उत्तम नीति भी है, आर्ष-मर्यादा भी, और संसार की सुख-सम्पदा को बढ़ाने वाला अमोघ योग भी।

८—कुछ बूढ़े लोगों को युवक स्नातक का अनुगमन करने में कुछ-कुछ संकोच-सा हो रहा है। ऐसा क्यों? यह तो कोई अच्छी बात नहीं। वृद्धों ने सदा ही युवकों का अनुगमन किया है। कहावत भी है—"पुत्रादिच्छेत् पराभवम्"। पुत्र और शिष्य को ज्ञान, विज्ञान एवं शुभ कर्मों में बढ़ा-चढ़ा देखकर, बड़ों को तो प्रसन्नता ही होनी चाहिये।

९—एक प्रकार से तो ये युवक स्नातक पितरों के भी पितर हैं। क्योंकि पहले माता आदि पितर ब्रह्मचारियों का पोषण करते थे। अब ये युवक अपने माता-पिता आदि का पोषण करेंगे। क्या ही अच्छा हो कि वृद्धगण अपने-अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी तैयार करें। अपने अधूरे कार्य, और सम्पूर्ण स्वत्व स्वेच्छापूर्वक अपने-अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दें। फिर शान्त होकर ओम-भजन में लग जायें।

१०—युवक अपने कर्तव्यों का पालन करना भली प्रकार जानते हैं। वृद्धों को रोटी-कपड़ा मिलता रहेगा। उनके मान-सन्मान का उचित ध्यान रखा जायेगा। वे आश्रम-मर्यादा का पालन करते हुए आगे पग बढ़ायें, पीछे आने वालों के

लिये स्थान को छोड़ते हुए आगे चलें। गतिरोध न होने दें। अपना लोक भी सुधारें, परलोक भी।

११—परिवार में और समाज में युवकों और वृद्धों के पारस्परिक संघर्ष के परिणामस्वरूप, जो अवांछनीय दृश्य जब-तब दृष्टि-गोचर होते रहते हैं, उनका अन्त तभी हो सकेगा, जबकि वृद्धगण प्रसन्नता के साथ युवकों का अनुगमन करेंगे।

१२—युवकों के उष्ण रक्त में उत्साह की मात्रा विशेष रूप से बहुत अधिक होती है। धैर्य की मात्रा भी उनमें कुछ कम होती है। कुछ करके दिखाने और कुछ बन के दिखाने के लिये वे उतावले से बने रहते हैं। उनके उत्साह को घटाना, दबाना या मिटाना उचित नहीं। सत्ता और अधिकार इसके पूर्व कि युवक इनको छीनने का आयोजन करें, प्रसन्नता पूर्वक उनको सौंप दिये जायें।

१३—यह एक अवश्यम्भावी कार्य है। अतः वृद्धों का सन्मान एवं संसार का लाभ इसी में है कि वृद्धगण युवकों को प्रसन्नतापूर्वक आगे आने दें। सभी अधिकार और विशेष अवसर ठीक समय पर युवकों को प्रदान कर दिये जायें। युवकों के काम पर वृद्धों की सतर्क-दृष्टि रहे। उनके द्वारा किसी बिगाड़ के होने पर, उसे सुधारा जाये; परन्तु युवकों की उत्तम प्रगतियों का विरोध या उनमें हस्तक्षेप कोई कभी भी न करे। यदि युवक किसी अंश में अयोग्य हैं, तो यह दोष वृद्धों का ही तो है। जब युवक सब प्रकार से योग्य हों, तब तो कोई भी कारण असमजस का है ही नहीं।

१४—ब्रह्मचारियों का अनुगमन एक दूसरे प्रकार से भी होता है।

यद् यदाचरति श्रेष्ठः, तद् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ जन जो कुछ करते हैं, वही कार्य अन्य साधारण जन भी करने लगते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों के आचार-विचार साधारण लोगों के लिये प्रमाणस्वरूप होते हैं।

१५—इस दृष्टि से बड़ों और वृद्धों को अपने सभी व्यवहारों में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये। ऐसा न हो कि वे किसी प्रकार के प्रमादवश कोई

भूल कर बैठें। बड़ों की भूल के दुष्परिणाम भी बड़े ही होते हैं। आरम्भ में जिन भूलों को सहज में ही सुधारा जा सकता है, कालान्तर में उनका निवारण असम्भव-सा हो जाता है। लोग श्रेष्ठ आचरणों की अपेक्षा दुष्ट आचरणों का ग्रहण और अनुकरण बहुत शीघ्र ही करने लगते हैं। यह नकलचीपन मानव स्वभाव की एक बहुत बड़ी विचित्रता तथा दुर्बलता है।

१६—जब ब्रह्मचर्य-आश्रम में निवास था, तब तो आचार्य की प्रसन्नता का सम्पादन ही ब्रह्मचारी का मुख्य कर्त्तव्य था। आज जब कि वह कार्य-क्षेत्र और धर्म-क्षेत्र में दौड़ रहा है, तब तो उसे हजारों देवों-साथियों, सहयोगियों, याचकों, वृद्धों, दुर्बलों, रोगियों, अपनों और परायों का ध्यान रखकर के चलना होगा।

१७—सभी को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना, किसी को भी निराश न करना, किसी को भी विरोधी न बनाना, सभी से उचित सहयोग लेना, यह एक बहुत ही कठिन तप है। इस तप के अनुष्ठान में जो कठिनाई है, तथा इसके लिये बौद्धिक-सन्तुलन एवं नैतिक-बल की जो आवश्यकता है, उसका अनुमान लगाना भी सब के लिये सुगम नहीं है।

१८—चेतन देवों के साथ ही जड़ देवों अर्थात् भौतिक-तत्वों को भी अनुकूल बनाने और उनको भी मानवता की सेवा में नियोजित करने का एक बड़ा कार्यक्रम भी ब्रह्मचारियों के सामने है। तप की सिद्धि तप से ही होती है। यज्ञ से ही यज्ञ सफल होता है। बड़ी-बड़ी सफलतायें छोटी-छोटी सफलताओं के समुच्चय ही तो हैं।

१९—धन्य हैं, वे माता-पिता और गुरुजन, जो अपनी सन्तान एवं शिष्य-परम्पराओं को आदर्श नागरिक बनाकर, संसार की सेवा के लिये समर्पित करते हैं, और धन्य हैं वे पुत्र, पुत्रियाँ तथा शिष्यगण, जो अपने माता-पिता और गुरुजनों को अपने शुभ कर्मों से सन्तुष्ट करते हैं, उनके अधूरे शुभ कार्यों को पूर्ण करते हैं और उनसे बढ़कर संसार की सेवा करते हैं।

२०—आज का बच्चा कल का नागरिक है। यदि गृहस्थ-जन संसार में आदर्श नागरिकों की वृद्धि के लिये तत्परता पूर्वक अपने-अपने कर्त्तव्य का

पालन करते रहे हैं, तो अपने बुढ़ापे के लिये किसी सहारे की चिन्ता वे न करें। कल के नागरिक उन्हें निराश न करेंगे।

२१—जो लोग सन्तान की अयोग्यता के रोने रोया करते हैं, वे अपनी सन्तान को सुयोग्य क्यों नहीं बनाते ? मगर—

बू हो क्या औलाद में, माँ—बाप के अतवार की।
दूध तो डब्बे का है, तालीम है सरकार की॥

२२—जो अपनी सन्तान-परम्परा को सुयोग्य बनायेंगे, वे तो आजीवन सुख ही सुख पायेंगे।

---

३ ब्रह्मचर्य-आश्रम

आचार्य उपनयमानो ब्रह्म—
चारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति
तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अथर्व. ११।५।३

शब्दार्थः—(उपनयमानः) उपनयन करने वाला (आचार्य) आचार्य (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (गर्भमन्तः कृणुते) मानो अपने गर्भ में धारण करता है। वह (तम्) उसको (तिस्रः रात्रीः) तीन रात तक (उदरे) अपने उदर में, अधिकार में रखकर (बिभर्ति) धारण करता है, पुष्ट करता है। फिर जब वह ब्रह्मचारी प्रगट होता है, तब (तम् जातम्) उस नवोत्पन्न, प्रसिद्ध ब्रह्मचारी को (द्रष्टुम्) देखने के लिये, उसके गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा लेने के

लिये (देवा) विद्वान् पुरुष (अभि संयन्ति) कामना करते हैं, पधारते हैं, और उसको उत्साहित करते हैं।

भावार्थ:—जब आचार्य शिक्षा प्रदान करने के लिये ब्रह्मचारी को स्वीकार करता और उसे अपने अधिकार में लेता है, तब मानो वह उसे अपने गर्भ में धारण करता है और जब तक ज्ञान, कर्म एवं उपासना में वह ब्रह्मचारी विशेष योग्यता एवं दक्षता को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे अपने पास रखकर विद्यादि शुभ गुणों से युक्त करता है। जब सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त करके एवं अपने शरीर की सभी क्षमताओं को विकसित करके वह ब्रह्मचारी गुरुकुल से विदाई लेता है और कार्यक्षेत्र में प्रवेश करता है, तब उसके विद्यादि शुभ गुणों को जानने के लिये बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके पास पधारा करते हैं। प्रसिद्ध पुरुष भी उसे देखने की कामना किया करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों को उत्साहित और सन्मानित करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है।

प्रवचन

१—उपनयन और वेदारम्भ संस्कार से समावर्तन-संस्कार पर्यन्त, अर्थात् आचार्य-कुल में प्रवेश से आरम्भ करके, शिक्षा समाप्ति के पश्चात् अपने घर में पुनरागमन पर्यन्त का, ब्रह्मचारी का कार्य-क्रम एवं इतिहास प्रस्तुत सन्दर्भ में चित्रित किया गया है।

२—उपनयन क्या है? माता-पिता का अपनी सन्तान को शिक्षा-ग्रहण करने के लिये आचार्य के पास भेजना, अथवा शिष्य का आचार्य के समीप जाना, इतना मात्र कार्य ही उपनयन नहीं है। यहां समीप जाने का तात्पर्य अधिक व्यापक और गहन है। यहाँ समीप जाने और उपनीत होने का अर्थ है—शिष्य का आचार्य को पसन्द आना। सेवा, स्वास्थ्य, शुद्धाचरण, परोपकार-भावना, श्रद्धा, सुरुचि, जिज्ञासा आदि-आदि सद्गुणों के आधार पर शिष्य का आचार्य के मन में बस जाना।

३—जब तक शिष्य आचार्य के मन में न बसे, और जब तक आचार्य सच्चे हृदय से शिष्य के प्रति हित कामना न करे, तब तक तो उपनयन-विधि अधूरी ही रहती है। जब तक आचार्य और शिष्य के स्वभाव में ताल-मेल, और विचारों में एकता, समन्वय, सुसंगति, अनुकूलता अथवा सन्तुलन स्थापित

न हो जाये, तब तक तो शारीरिक रूप में एक दूसरे के पास रहने पर भी, वे एक दूसरे से दूर ही रहते हैं। इस दूरी का बहुत अधिक दूरी होना भी सम्भव है।

४—विद्यारम्भ का सर्वप्रथम कार्य-क्रम यही है कि शिष्य और आचार्य सब प्रकार से एक दूसरे के समीप आवें अर्थात् एक दूसरे के अधिकाधिक अनुकूल होने का प्रयत्न करें। और वे उत्तरोत्तर एक दूसरे के अधिक समीप आते चले जायें। यदि शिष्य और आचार्य के जीवन में किसी प्रकार का व्यवधान, वा भेदभाव बना रहेगा, तब तो उपनयन-प्रक्रिया का पूरा लाभ किसी को भी नहीं हो सकेगा। शिष्य का ज्ञान अधूरा रहेगा। आचार्य की विद्या भी कुण्ठित एवं वन्ध्या बनी रहेगी। ऋषि-तर्पण की पुण्य-विधि और ज्ञान-प्रसार-महायज्ञ के भंग होने से तो संसार में भारी संकट उपस्थित हो जायेगा।

५—जीवन की एक छोटी-सी कोंपल को माता अपने उदर में धारण करती है। समय पाकर और विकसित होकर, वह कोंपल कली बन जाती है। फिर विकसित होकर वह फूल बन जाती है और बालक के रूप में जन्म ग्रहण, करती है। समय आने पर उस बालक को लेकर माता-पिता आचार्य की सेवा में आते हैं। और उसे, बालक के हित के लिये, अपने हित के लिये, देश, जाति, राष्ट्र और संसार के हित के लिये, आचार्य के चरणों में समर्पित कर देते हैं।

६—यह कार्य कुछ कठिन और निष्ठुर-सा है; तथापि माता-पिता को अपने मोह-ममता के बन्धनों को तोड़कर इसे करना ही होगा। यदि माता-पिता अभिभावकगण स्वेच्छा से सन्तान के प्रशिक्षण कार्य में सहयोग न देंगे, तो उन्हें सामाजिक और राजकीय आदेश से ऐसा करना होगा। यह एक आवश्यक कार्य है। ऐसी लोक-हितैषिणी प्रगतियों में बाधा डालने की छूट किसी मोह-ममता-ग्रस्त वा मूढ़ माता-पिता आदि को कोई भी सुसभ्य समाज वा राष्ट्र कदापि नहीं दे सकता।

७—जिस जीवन की कोंपल ने एक बार माता के गर्भ में रहकर पोषण प्राप्त किया था, वही अब आचार्य-कुल में एक नये विकास क्रम में से होकर गुजर रही है। आचार्य-कुल में उसकी मानसिक और आत्मिक शक्तियों का

विकास हो रहा है। और, साथ ही हो रहा है, उसकी त्रुटियों का संशोधन। यदि उसके शारीरिक विकास में पहिले कोई त्रुटि रह गई थी, तो उसका सुधार भी आचार्य-कुल में हो रहा है।

८—भोजन, छादन, निवास, प्रशिक्षण, भ्रमण, संरक्षण और पूर्ण आत्म-विकास के सब आवश्यक प्रबन्ध, उपकरण तथा आयोजन विधिपूर्वक सम्पन्न हो रहे हैं। ब्रह्मचर्य-आश्रम का जीवन कठिन तपस्या और दृढ़ अनुशासन का जीवन है। आचार्य-कुल में ब्रह्मचारियों का निवास कुछ सुनिश्चित और कल्याणकारी नियमों के अनुसार होता है। वे नियम सभी के लिये एक जैसे होते हैं, ब्रह्मचारियों के लिये भी और आचार्य आदि गुरुजनों के लिये भी।

९—ब्रह्मचारी का आचार्य-कुल में निवास भी एक प्रकार का दूसरा गर्भ-वास ही है। एक जन्म वह था, जब बच्चा माता की पवित्र कोख से धरती पर आया। दूसरा जन्म वह होगा जब पूण आत्म विकास के पश्चात् ब्रह्मचारी संसार के कार्य-क्षेत्र में पदार्पण करेगा। तब वह द्विज कहलायेगा।

१०—वेद में आचार्य को 'यम' भी कहा गया है, 'अन्तक' भी और 'मृत्यु' भी। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के, पाँचवें सूक्त के, चौदहवें मन्त्र में*, आचार्य के लिये 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग सुस्पष्ट है। कठोपनिषद् की प्रसिद्ध आख्यायिका में भी आचार्य का चित्रण यम, मृत्यु और अन्तक के आलंकारिक रूप में हुआ है।

११—आचार्य के लिये यम, मृत्यु तथा अन्तक इन नामों का प्रयोग साहित्यिक अनुविधाओं के अनुसार लाक्षणिक उल्लेख है। आचार्य, माता, पिता एवं घर-द्वार के प्रति शिष्य के मोह-बन्धन का अन्त कर देता है। आचार्य के पास रहते हुए अपने 'मैं' को मारकर के ही शिष्य को उच्चतर सिद्धि प्राप्त होती है। इन हेतुओं के आधार पर ही आचार्य को 'अन्तक' कहा जाता है। नियमों का नियामक होने से आचार्य को 'यम' कहते हैं। पहिले बाल-जीवन को समाप्त करने और नये, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न युवक-जीवन का प्रवर्त्तक होने के कारण आचार्य को 'मृत्यु' कहते हैं।

१२—"आचिनोति आचारान् अर्थान् वा इति आचार्यः।"

* आचार्यो मृत्युः। अथर्व० ११।५।१४॥

अर्थात् जो शिष्य-वर्ग को सत्याचरण की शिक्षा और धर्म अर्थ, काम, एवं मोक्ष प्राप्ति की पूर्ण योग्यता प्रदान करता है, उसे आचार्य कहते हैं। जो सच्चे आचार्य होते हैं, उनके कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी को भी नहीं है, न समाज को, न राज्य को। समाज और राज्य को तो बिना शर्त आचार्य के आदेशों का पालन करना होता है। वैदिक शिक्षा-पद्धति और समाज-व्यवस्था का प्राचीन आदर्श यही है।

१३—आचार्य शिष्य को तीन रात्रि पर्यन्त अपने गर्भ में धारण करता है। "रात्रि" शब्द का अर्थ यहाँ साधारण रात्रि नहीं है। यहाँ तो ब्रह्मचर्य-आश्रम के सम्पूर्ण निवास-काल को ही तीन रात्रियों के रूप में कल्पित किया गया है। जब सम्पूर्ण सैद्धांतिक प्रशिक्षण समाप्त हो जाता है, तब प्रथम रात्रि समाप्त होती है। जब सम्पूर्ण क्रियात्मक, व्यावहारिक वा कर्मकाण्डात्मक प्रशिक्षण समाप्त हो जाता है, तब दूसरी रात्रि समाप्त होती है। और जब सब विद्याओं की सत्य, साक्षात्, निर्भ्रान्त, प्रतीति या अनुभूति शिष्य को हो जाती है, तब तीसरी रात्रि समाप्त हो जाती है।

१४—इस प्रकार विधि पूर्वक ज्ञान-काण्ड, कर्म-काण्ड और उपासना-काण्ड की सम्पूर्णता होने पर, अविद्या और अन्धकार की सम्पूर्ण धारणाओं, वृत्तियों, तथा कुसंस्कारों आदि के नष्ट होने पर, शिष्य का ज्ञान निर्मल एवं परिपक्व हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में रात्रि शब्द अविद्या वा अज्ञान की अवस्था का सूचक है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति विषयक अज्ञान की निवृत्ति भी यहाँ तीन रात्रियों की समाप्ति द्वारा सूचित की गई है।

१५—पूर्ण ज्ञान लाभ करके, ब्रह्मचारी समावर्तन-संस्कार का अधिकारी हो जाता है। आचार्य की स्वीकृति से अब वह जीवन-संघर्ष के नये क्षेत्र में पदार्पण करेगा और अपने कुल तथा आचार्य का सुयश संसार में प्रसारित करेगा। आचार्य-कुल से निष्क्रमण को वैदिक-विचार-पद्धति में जो दूसरा जन्म माना गया है, सो ठीक ही है।

१६—समावर्तन-संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी को 'द्विज' की एक नई पदवी वा संज्ञा प्राप्त होती है। संसार में ऐसा अभागा कौन होगा, जो कि सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत, नये स्नातकों के स्वागत, दर्शन और अभि-

नन्दन में पीछे रहेगा ? नये स्नातक आ रहे हैं, जा रहे हैं। दर्शन-मेला हो रहा है। नये-नये आशावाद प्रवर्त्तित हो रहे हैं।

१७—वेद आचार्य और ब्रह्मचारी अथवा गुरु और शिष्य के अभिन्न और आदर्श सविधान को प्रस्तुत करता है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्र-विशारद इस प्राचीनता में अपने लिये प्रकाश की खोज करें। आये दिन गुरुडम के ढौंग और लोभी गुरु एवं लालची चेले की लीलायें तो जहाँ-तहाँ प्रकाश में आती ही रहती हैं; परन्तु वैदिक आदर्शों का पालन तो विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-आश्रम की प्राचीन एवं सर्वहितकारी संस्था को पुनर्जीवित करके ही प्राप्त हो सकेगा। इस सामाजिक आदर्श को पुनरपि प्राप्त करने के लिये प्रबल आन्दोलन तथा सुनिश्चित आयोजन की पुकार आज संसार में हो रही है। गुरु-कुल पद्धति को जीवित करो, विकसित करो।

---

४ धर्मक्षेत्रे-कर्मक्षेत्रे

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो—
तान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥

अथर्व० ११।५।४

शब्दार्थ—जब ब्रह्मचारी अग्नि-होत्र करता है और उसमें तीन समिधायें अर्पित करता है, तो मानो वह (इयम्) इस प्रथम (समित्) समिधा से (पृथिवी) पृथिवी को (द्वितीया) दूसरी से (द्यौः) द्युलोक को (उत) और तीसरी

(समिधा) समिधा से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (पृणाति) पुष्ट करता है, तृप्ति करता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) अग्नि-होत्र आदि यज्ञों के द्वारा, (मेखलया) इन्द्रिय-संयम और मर्यादा-पालन के द्वारा (श्रमेण) पुरुषार्थ के द्वारा एवं (तपसा) अपने तप और कष्ट-सहिष्णु-जीवन के द्वारा (लोकान्) सब लोकों, सब प्राणियों, सब श्रेष्ठ आदर्शों को प्रसन्न करता है, प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी का जीवन त्याग, तप और बलिदानमय होता है।

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी अग्नि-होत्र करते समय, यज्ञ-कुण्ड में तीन समिधायें समर्पित करता है, तब वह मानो अपनी ज्ञान, कर्म और उपासना की तीनों शक्तियों को पृथिवी, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक को पुष्ट करने के लिये समर्पित कर देता है। अपनी यज्ञ-साधना, संयम-शीलता, पुरुषार्थ परायणता, तपश्चर्या आदि शुभ प्रवृत्तियों के द्वारा वह ब्रह्मचारी सब लोकों और सब प्राणियों को पुष्ट एवं सन्तुष्ट करता है और उन्नत होकर सभी प्राप्त करने योग्य उच्च पदों अर्थात् श्रेष्ठतम भूमिकाओं को प्राप्त करता है।

प्रवचन

१—ब्रह्मचारी की विद्या, प्रतिभा, कार्य-कुशलता, क्षमता, ब्रह्म-साधना और अध्यात्म-निष्ठा के एक से बढ़कर एक चमत्कार संसार के दृष्टि-पथ में आ रहे हैं। ब्रह्मचारियों से सभी अपनी-अपनी अनेक-विध आशायें लगाये बैठे थे। चिर-प्रतीक्षा के पश्चात् ब्रह्मचारी ने कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। अब तक जीवन मानो प्रसुप्त-सा पड़ा था। ब्रह्मचारी के प्रत्यागमन के साथ ही जीवन, ज्योति और जागृति की एक लहर-सी सर्वत्र व्याप्त हो ई है। घर में चहल-पहल हो रही है। मंगल-गान गाये जा रहे हैं। समाज में एक नया आशावाद अंगड़ाइयाँ लेने लगा है। राष्ट्र में एक नई स्फूर्ति का आविर्भाव हुआ है।

२—ब्रह्मचारी की विद्या के तेज से जगमगाती हुई मूर्त्ति ने मानो पशु-पक्षियों पर और प्राकृतिक-जगत् पर भी कुछ जादू-सा कर दिया है। वातावरण में ऐसी आह्लादकता और मादकता का संचार हो गया है, जिसका वर्णन शब्दों के द्वारा सम्भव नहीं है। यदि किसी में क्षमता हो, तो वह इस नूतन आशावाद-

पूर्ण, आह्लादक और मादक वातावरण के आनन्द की अनुभूति प्राप्त करे। जिसमें नवयौवन झूल रहा है, फूल रहा है, जाग रहा है, झाँक रहा है, और कर्तव्य की पूर्ति के लिये आगे बढ़ने को प्रस्तुत हो रहा है।

३—एक अग्नि-होत्र वह है, जो प्रतिदिन सभी भले घरों में होता है। एक अग्नि-होत्र यह है, जिसका आरम्भ आज एक ब्रह्मचारी ने किया है। ब्रह्मचारी ने अपनी प्रथम समिधा यज्ञ-कुण्ड में समर्पित की। यह इसकी सम्पूर्ण ज्ञान-विभूति है। ब्रह्मचारी ने अपनी दूसरी समिधा यज्ञ-कुण्ड की भेंट की। यह इसकी सम्पूर्ण उपासना-विभूति है। ब्रह्मचारी ने अपना तन, मन, धन, यौवन, जीवन, प्राण, वर्तमान और भविष्य, सभी कुछ, यज्ञ-पुरुष के सम्मुख समर्पित कर दिया है। अपना कहने योग्य अब कुछ भी इसके पास नहीं। उसकी तीसरी आहुति यही है।

४—यूँ भी कह सकते हैं कि अब सब कुछ इसका है, पराया कुछ भी नहीं, कोई भी नहीं। अब यह ब्रह्मचारी किसी वर्ग-विशेष, जाति-विशेष, राष्ट्र-विशेष, गुट-विशेष वा पक्ष-विशेष का ब्रह्मचारी नहीं है। इसने सर्वहित के लिये अपना आत्म-समर्पण किया है। रह-रहकर "इदन्न मम" का नाद आकाश में गूँज उठता है। अब यह सब का ब्रह्मचारी है, पशु-पक्षियों का भी, स्थावरों का भी, जड़-जगत् का भी। और, यदि किसी का यह नहीं है, तो वह इसका अपना आपा है। सब प्रकार की स्वार्थ-परायणता को इसने साहस पूर्वक ठुकरा दिया है। ब्रह्मचारी ने सोच समझकर ही त्यागवाद का अवलम्बन किया है। यही तो सच्चा-सौदा है। त्यागवाद ही तो मानवता का सर्वोच्च सिद्धान्त है। अपरिग्रह कहें, या त्यागवाद, बात एक ही है।

५—यज्ञ-पुरुष की सेवा में अपना सब कुछ समर्पित करके और त्यागवाद का मनसा, वाचा, कर्मणा अवलम्बन करके, ब्रह्मचारी ने क्या खोया है? और क्या पाया है? यह रुपये, पैसे के चक्कर में भ्रमित हिसाबी-संसार तो कभी भी इस रहस्य को समझ नहीं सकेगा। उसके अनुष्ठान के महत्व को कोई ऐसा ब्रह्मचारी ही समझ सकता है, जोकि स्वयं भी त्यागवाद का ही अनुयायी हो।

६—त्यागवाद का अनुसरण करके ब्रह्मचारी ने वास्तव में एक लाभदायक सौदा किया है। उसने अपना तन, मन, धन, विद्या, वैभव, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ सुरक्षित कर लिया है। खोया उसने कुछ भी नहीं। ब्रह्मचारी की कार्य-कुशलता की धाक सर्वत्र बैठ चुकी है। सभी प्रसन्न होकर उसके अनुष्ठानों के शुभ परिणामों को देख रहे हैं। हाँ, आलोचकों की पैनी दृष्टि भी उस पर है। परन्तु चिन्ता की इसमें क्या बात है? यह तपा हुआ सोना है! तप-तप कर कुन्दन बन चुका है। सब प्रकार की परीक्षाओं में इसका सन्मान-सहित उत्तीर्ण होना निश्चित है।

७—ब्रह्मचारी ने सर्व-भूत-हित महायज्ञ का आरम्भ किया है। अपने सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, वाग्वैभव, धन, माल आदि को वह एक सूखी समिधा के समान यज्ञ-कुण्ड की भेंट कर ही चुका है। और भी जो कुछ पाता जाता है, यज्ञ-कुण्ड की भेंट चढ़ाता जाता है। एक अपूर्व ज्योति उसने जगाई है। एक अलौकिक आभा उसके मुख-मण्डल पर जगमगा रही है। उसके जीवन ने एक अखण्ड-यज्ञ का ही रूप धारण कर लिया है। वह पहिले एक व्यक्ति था, फिर एक संस्था बन गया। वही आज एक बड़े आन्दोलन के रूप में अग्रसर हो रहा है।

८—ब्रह्मचारी ने एक मेखला धारण कर रखी है। क्या इस सूत या मूँज की डोरी का भी कोई विशेष महत्व है? हाँ, है। यह सूत या मूँज की मेखला, उस सुमर्यादित—जीवन का एक प्रतीक है, जिसको ब्रह्मचारी ने अपनी आत्म-प्रेरणा के आधार पर स्वीकारा है, जिसमें उसने अपने आपको स्वेच्छा से, प्रसन्नता पूर्वक बांधा है, और जिसका उल्लंघन करना, अब उसके अपने वश में भी नहीं है।

९—जो उत्तम मर्यादाओं को तोड़े, वह तो कोई अच्छा आदमी हो ही नहीं सकता। दूसरों के बनाये हुए और बलपूर्वक थोपे हुए नियमों को तो आवश्यकतानुसार तोड़ा भी जा सकता है; परन्तु अपने आप बनाये हुए और सोच-समझकर अपनाये हुए नियमों को तो तोड़ा नहीं जा सकता। यदि किसी प्रकार के प्रलोभन अथवा बल-प्रयोग ब्रह्मचारी को पथ-भ्रष्ट करना

चाहेंगे, तो उनकी विफलता सबके सामने सिद्ध हो जायेगी। ब्रह्मचारी का तो वे कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे।

सच्चे की तो इज्जत ही बढ़ेगी, जो करें जाँच।
मशहूर मसल है कि नहीं साँच को कुछ आँच॥

१०—कोई इस ब्रह्मचारी के सात्विक और सतत पुरुषार्थ को भी तो देखे। अपने ज्ञान, विज्ञान, अनुष्ठान तथा संघर्ष के परिणाम-स्वरूप ब्रह्मचारी ने समाज और राष्ट्र के जीवन में एक अभिनव-क्रान्ति प्रस्तुत कर दी है। सर्वत्र उभार, निखार और सुधार दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। घातक रूढ़ियाँ दम तोड़ रही हैं। अन्ध-विश्वास दुम दबाकर भाग रहे हैं। कामी, कपटी, कायर, और दम्भी, समुदाय छिपे-छिपे, दम साधे पड़े हैं।

११—ब्रह्मचारी की वाणी में अपूर्व आकर्षण है। उसकी ललकार सज्जनों के लिये घन-गर्जना के समान आनन्द-प्रदा है और वही दुर्जनों के लिये सिंह की दहाड़ के समान भयंकरा है। ब्रह्मचारी की तपस्या के शुभ फलों का उपभोग करते हुए सम्पूर्ण संसार आज आनन्द-विभोर हो रहा है। ब्रह्मचारी के गुणगान गाये जा रहे हैं। वीर-पूजा के नये चित्र प्रस्तुत होने लगे हैं।

१२—धन्य है, वह माता, जिसने यह लाल जाया। धन्य है, वह पिता, जिसने ऐसा सुयोग्य पुत्र पाया। धन्य है, वह आचार्य जिसको ऐसा सुयोग्य शिष्य मिला। धन्य है, वह देश, वह जाति, और राष्ट्र, जिसमें ऐसे-ऐसे ब्रह्मचारी बहु-संख्या में हैं। ब्रह्मचारी बनो। ब्रह्मचारी बनाओ। ब्रह्मचारी मानवता का सच्चा सहारा है। ब्रह्मचारियों से ही संसार की शोभा है।

१३—यदि कोई सच्चे पुरुषार्थ का पाठ पढ़ना चाहे, तो वह ब्रह्मचारी से पढ़े। यदि कोई परिश्रम की गुण-गरिमा को हृदयंगम करना चाहे, तो यह ब्रह्मचारी की कार्य-प्रणाली और विचार-धारा का मनन एवं अभ्यास करे। उत्तम आदर्शों की पूर्ति के लिये मेखला बाँधकर, अर्थात् कमर कस कर कर्तव्य-पथ पर डट जाना, कोई ब्रह्मचारी से सीखे। नीतिकार कहते हैं कि पुरुषार्थ मनुष्य का सबसे बड़ा बन्धु है। ब्रह्मचारी इस नीति-सूत्र की सत्यता का

मूर्तिमान् उदाहरण है। यहाँ यह भी सत्य सिद्ध हो गया कि जो पुरुषार्थी होते हैं, ईश्वर उनका विशेष सहायक होता है।

१४—ब्रह्मचारी का जीवन आरम्भ से ही श्रेष्ठ, अनुकरणीय और उत्तर-दायित्वपूर्ण देखने में आता है। पहिले वह आचार्य-भक्त था, फिर देवोपासक बना। फिर सब लोक-लोकान्तरों में वर्तमान प्राणियों के सुख-संवर्धन को उसने अपने जीवन का मुख्य-लक्ष्य बनाया। उसके दिव्य-संकल्प ने कर्म-योग के रूप में परिणत होकर आशा, चेतना, सद्भाव, सात्विकता और रचना की एक नई लहर ही संसार में चला दी है।

१५—धुन का धनी, पवित्र संकल्पों वाला, लंगोट बन्द पुरुष अकेला होते हुए भी क्या कुछ कर सकता है? यह ब्रह्मचारी के जीवन से स्पष्ट है। धर्म-क्षेत्र और कर्म-क्षेत्र ब्रह्मचारी के जय-जयकारों से गूँज रहे हैं। ज्ञान की शोभा कर्म से है। कर्म की शोभा ज्ञान से है। जो ज्ञान क्रिया के रूप में परिणत न हो सके, वह तो एक प्रकार का बिलास ही है। जिसके अन्त में अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है, वही सच्चा सिद्धान्त है। सिद्धि के बिना कैसा सिद्धान्त? ब्रह्मचारी का अनुकरण करो। संसार में परिश्रम एवं त्यागवाद की प्रतिष्ठा करो।

---

५ ब्रह्मचारी का विराट्-रूप

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी,
धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं,
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

अथर्व० ११। ५। ५

शब्दार्थ :—(ब्रह्मणः) ब्रह्म से (पूवः) पहले (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ही (जातः) उत्पन्न हुआ। (धर्मम्) जीवन की उष्णता को (वसानः) धारण करता हुआ वह (तपसा) शुभकर्मों के द्वारा (उत्—अतिष्ठत्) उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ (तस्मात्) फिर उस ब्रह्मचारी से (ब्रह्मज्येष्ठ) उच्च-कोटि का ज्ञान, वेद (ब्राह्मणम्) आस्तिक भाव, ब्राह्मणपन (च) और (अमृतेन साकम्) अमृत के साथ, आनन्द, सौन्दर्य, तृप्ति के साथ (सर्वे) सब (देवाः) देव, पंच-महाभूत, विद्वान्, इन्द्रियाँ, दिव्यभाव, वसु, रुद्र और आदित्य (जातम्) उत्पन्न, प्रगट, प्रसिद्ध, हुए।

भावार्थ :—ससार की उत्पत्ति के क्रम में जब मनुष्योत्पत्ति हुई, तब सर्वप्रथम ब्रह्मचारी उत्पन्न हुआ। अपने पुरुषार्थ द्वारा उसने अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया। उस ब्रह्मचारी के पुरुषार्थ से ही संसार में श्रेष्ठ ज्ञान उत्पन्न हुआ। -ानन्द को बढ़ाने वाले सब देव, विद्वान्, श्रेष्ठ संविधान एवं सब इन्द्रियां और वसु, रुद्र तथा आदित्य तीन प्रकार के ब्रह्मचारी ये सब ब्रह्मचारी से = ब्रह्मचर्य से ही उत्पन्न हुए हैं।

प्रवचन

१—प्रस्तुत प्रसंग में सर्गारम्भ की अवस्था का आलंकारिक और सांकेतिक निरूपण है। यहाँ जड़-जगत्, चेतन-तत्त्व और आदिम-मानव आदि सभी का उल्लेख ब्रह्मचारी के रूप में किया गया है। इस संदर्भ का व्याख्यान कई प्रकार से हो सकता है। और उन सभी प्रकारों में सुसंगत सत्य की उपलब्धि भी होती है। व्याख्यान में भेद होने पर भी किसी तात्विक या मौलिक-भेद की सम्भावना ब्रह्मचर्य के महत्व के विषय में नहीं है।

२—ईश्वर सृष्टि-कर्त्ता है। दार्शनिक भाषा में आर्य-मनीषी सृष्टि-कर्त्ता को निमित्त-कारण कहते हैं। काल आदि साधारण-कारण निमित्त-कारण से भिन्न होते हैं। उपादान-कारण तो सूक्ष्म, जड़-तत्त्व ही होता है। निमित्त-कारण के अभाव में तो उपादान कारण से किसी नई रचना का सम्भव ही नहीं। किसी भी रचना-क्रम में निमित्त-कारण का विचार सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। ईश्वर ब्रह्मचारी है। वह सत्य में, ज्ञान में, जहान में विचरने वाला है। अर्थात् **ब्रह्मणा ज्ञानदिना सह चरित - इति ब्रह्मचारी परमात्मा ईश्वरः।**

३—सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और विज्ञानस्वरूप ईश्वर की सामर्थ्य से जब प्रकृति में सर्वप्रथम हलचल हुई और सृष्टि की उत्पत्ति आरम्भ होकर, संसार की उत्पत्ति का जो अनुक्रम प्रवर्तित हुआ, वह भी ब्रह्मचारी ही था। वह ब्रह्म के हाथ का एक कौतुक, वा खिलोना था। ब्रह्म से ही उसे गति प्राप्त होती थी, और ब्रह्म में ही उसका विचरण था। उन्नति, विकास, निर्माण एवं सुसंस्कार आदि की सभी प्रकार की शक्तियां, सम्भवनायें, योग्यतायें और क्षमतायें उसमें वर्तमान थीं। वह एक महान् कर्म-प्रवाह था। वह एक महान्-यज्ञ था। वह ईश्वर का एक बड़ा तप भी था, तप का फल भी। जीवन, ज्योति, जागृति से वह सब प्रकार से परिपूर्ण था।

४—बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटित हो रही थीं। परिस्थितियाँ बहुत जल्दी-जल्दी बदल रही थीं। नये-नये गुण, कर्म स्वभाव, पदार्थ, रूप और आकार-प्रकार प्रकाश में आते जा रहे थे। ईश्वर का एक नाम पुरुष भी है। पुरुष की बहुत सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत प्रसंग में प्राप्त मन्त्र के पूर्वार्ध में उपलब्ध होती है।

५—सृष्टि की उत्पत्ति से पहले ही जिसमें पापों को भस्म करने का सामर्थ्य है, वह पुरुष है। पुरुष शब्द का अर्थ यह भी है। पुर=पहिले। उष=जलाना। ईश्वर पापों से रहित है। वह उस अग्नि से युक्त है, जो पापों को भस्मीभूत कर देती है। मनुष्य को भी पुरुष कहते हैं। मनुष्य कभी जान-बूझकर और कभी अनजान में पाप करता है यह तो हम प्रतिदिन देखते ही हैं; परन्तु मनुष्य का स्वभाव तो पापों से घृणा करने वाला ही है।

६—जब कोई पाप संकल्प के रूप में मनुष्य के पास आता है, तब मनुष्य के हृदय में भय, शंका, लज्जा और पाप के प्रति घृणा अथवा अरुचि की उत्पत्ति अवश्य ही होती है। जिनके जीवन की अग्नि सबल होती है, वे पाप को अथवा पाप-मूलक विचार को तत्क्षण ही भस्म कर देते हैं। जिनके जीवन की अग्नि मन्द होती है, वे पाप के चंगुल में फँस जाते हैं. ब्रह्मचारी तो वे हैं, जो पापों को भस्म करते हैं, पाप-प्रवाह में बहते, फँसते या डूबते नहीं।

७—पहले तीन तत्त्व थे। परमात्मा सूक्ष्मतम तत्त्व है। आत्मा वा जीवात्मा सूक्ष्मतर तत्त्व है। जीवात्मा परिच्छिन्न है और परमात्मा उसमें व्यापक है। प्रकृति सूक्ष्म है। जीवात्मा की भोग्या तथा दृश्य-जगत् की उपादान-स्वरूपा

यह प्रकृति ही है। जीवात्म-तत्त्व अनन्त है ; तथापि जाति के रूप में उन के लिये एक वचन का व्यवहार सुसंगत है।

८—जीवात्म-तत्त्व में पहले पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व जुड़े हुए थे। फिर पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व दोनों पृथक्-पृथक् हो गये। जैसे एक चने की दाल के दो भाग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। उन ही दोनों तत्त्वों के मेल का खेल यह नाना प्रकार के नाम और रूप से युक्त संसार है। ईश्वर ने, जीवात्म-तत्त्व के लिये, प्रकृति से इस संसार की रचना की है। इस सम्पूर्ण प्रपंच की पहेली का यही तात्त्विक समाधान है। दार्शनिक-भाषा में इसे "त्रैतवाद" कहते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों अनादि हैं।

९—पहले यह सृष्टि नाम और रूप से रहित थी। सर्व-प्रथम आत्म-तत्त्व ने अपने अहंकार को जाना। फिर जल-तत्त्व की उत्पत्ति हुई। फिर अग्नि का प्रकाश हुआ। जल से पिण्ड की दशा प्रकाश में आई। अग्नि से रूप प्रकाशित हुआ। अग्नि के पश्चात् वाणी का आविर्भाव हुआ अर्थात् रूपवान्, संवेदनाशील एवं प्रमाण-सिद्ध सभी पदार्थों को निज-निज सामर्थ्यानुसार नाम प्राप्त हुए। नामों के बिना तो संसार का कोई भी काम चल ही नहीं सकता था। यह नामोत्पत्ति ही वाणी अथवा भाषा की उत्पत्ति है।

१०—इसको ही मन्त्र में "ब्रह्म-ज्येष्ठ ब्राह्मणम्" कहा गया है। यही वह ईश्वरीय-ज्ञान है, जो परमपिता परमात्मा ने सृष्टि उत्पत्ति के समय, सर्व प्रथम वार मानव-जाति को प्रदान किया था।

११—इसी ज्ञान का दूसरा संक्षिप्त संकेत "नाम" शब्द से भी किया जाता है। संज्ञायें, सब क्रियायें, सब विशेष और सब विशेषण, सभी कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन प्रभृति, जो भाषा वा भाषा-प्रवाह के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे "नाम-संग्रह" मात्र ही तो हैं। एवमेव नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ये सब "नाम" ही तो हैं।

१२—सर्गारम्भ में उत्पन्न होने वाले तत्त्वों का यदि पृथक्-पृथक् रूप में विचार और विश्लेषण कोई करना चाहे, तो करे। वेद प्रत्येक पृथक्-पृथक् तत्त्व का निरूपण एक स्वतन्त्र ब्रह्मचारी के रूप में करता है। सर्गारम्भ के तत्त्वों का विचार कोई सांघातिक, सामुदयिक, वर्गों अथवा श्रेणियों के रूप में

करना चाहे, तो करे। वेद प्रत्येक संघ, समुदाय, श्रेणी और वर्ग को एक स्वतन्त्र ब्रह्मचारी के रूप में प्रस्तुत करता है। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य के अभाव में सृष्टि का निर्माण हो ही नहीं सकता, न ही सृष्टि का विकास-क्रम आगे चल सकता है।

१३—सर्गारम्भ में जो मानव-जाति उत्पन्न हुई थी, और जिस को ईश्वरीय-ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, वह भी ब्रह्मचारी ही थी। वह अमैथुनी-सृष्टि थी। वह पूर्ण विकसित थी, युवा थी, जीवन का सम्पूर्ण ओज, तेज और प्रभाव उसे प्राप्त था। ज्ञान की ज्योति उसे प्राप्त थी। उन्नत होने और आगे बढ़ने की पूरी गति उसमें वर्तमान थी। वह "तप" से और "सर्वश्रेष्ठ ज्ञान" से विभूषित थी। सर्गारम्भ के मनुष्य पाप को भस्म करने में विशेष रूप से समर्थ थे। पाप के फन्दे में फँसने वाले वे न थे।

१४—हमें जो ज्ञान इस समय प्राप्त है, वह सब सृष्टि के आरम्भ से इस समय तक की, कर्म-प्रवाह की परम्परा में बह कर ही हमें प्राप्त हुआ है। मार्ग का कूड़ा-करकट भी उसमें मिल गया है। उस कूड़े-करकट को जान लेने, दूर करने या भस्म करने की क्षमता हमारे अन्दर भी होनी चाहिये। वेद ने प्रस्तुत-प्रसंग में "धर्म" शब्द का प्रयोग उसी क्षमता के लिये किया है। इसी को दिव्य-दृष्टि दिव्य-जीवन, दिव्य-वाणी, दिव्य-श्रवण और दिव्य-स्पर्श में संकेतित किया जाता है। यह पूर्ण पवित्रता, पूर्ण निष्पापता का आलंकारिक वर्णन है।

१५—जो व्यक्ति ज्ञान को उसके परम शुद्ध प्राथमिक रूप में जानता है और फैलाता है, वह ब्रह्मचारी है। जो सृष्टि के जीवन-तत्त्व को धारण करता और सृष्टि के रचना-प्रवाह को प्रगति प्रदान करता है, वह ब्रह्मचारी है। जो अज्ञान, अविद्या, पाप और सब प्रकार के भ्रष्टाचार रूपी अन्धकार को मिटाने में समर्थ है, तथा मिटाता है, वह ब्रह्मचारी है।

१६—प्रत्येक ब्रह्मचारी में उस ब्रह्म-तत्त्व का, जीवन-तत्त्व का, ज्ञान-तत्त्व, का सबलतम-सामर्थ्य वर्तमान है, जोकि सर्गारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति का कारण बना था। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक पदार्थ, जिसमें पूर्ण जीवन वर्तमान है, ब्रह्मचारी है। श्रेष्ठ ब्रह्मचारी ही कर्म-प्रवाह के सिद्धान्तानुसार "देव"

पद को प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ देव ही कर्म-प्रवाह के सिद्धान्तानुसार अमृत=अमर बन जाते हैं। वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं, सब प्रकार के दुःखों से छूट जाते हैं।

१७—समाज-शास्त्र के अनेक सुन्दर-सिद्धान्त बीज रूप में यहाँ दर्शाये गये हैं। ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व यह आवश्यक है कि मनुष्य ब्रह्मचारी बने, अर्थात् वह सरल, विनम्र, जिज्ञासु और पुरुषार्थी बने। अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति पुरुषार्थ के द्वारा ही सम्भव है। ऊँचा उठने और आगे बढ़ने के लिये एक-ध्येय-निष्ठा अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता और कर्म-योग-परायणता की प्रबल आवश्यकता है।

१८—इसी विधान का शास्त्रीय नाम "तप" है। संयमी और सशक्त मनुष्य ही श्रेष्ठ कर्मों को करने तथा सत्य-ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। सत्य का आग्रह और सदाचार-पालन दुर्बल जन तो कभी कर ही नहीं सकते। उत्तम आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिये परिपक्व-मन, पुष्ट-शरीर, और दृढ़-विचार वाले ब्रह्मचारियों की वृद्धि संसार में, संसार के सभी भू-भागों में होनी चाहिये। सच्चे ब्रह्मचारी ऊँचे आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिये सदा ही बड़े से बड़ा तप, त्याग और बलिदान करने के लिये समर्थ होते हैं। भाड़े के टट्टू, वे सैनिक हों, या प्रचारक, चिकित्सक हों या सुधारक, उनसे तो कुछ भी आशा नहीं की जा सकती।

६ ब्रह्मचारी का स्वागत

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः,
कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं,
लोकान्-संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥

अथर्व० ११ । ५ । ६

शब्दार्थ—(समिधा) समिधा द्वारा, यज्ञ-सामग्री द्वारा (समिद्धः) सुप्रदीप्त सुप्रकाशित, तेजस्वी (कार्ष्णं वसानः) काले कम्बल को धारण करने वाला, कृष्णमृग-चरमधारी (दीक्षितः) सदाचार के नियमों के पालन में दक्ष, तत्पर (दीर्घश्मश्रु) लम्बी दाढ़ी और मूँछों वाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (एति) आ रहा है, उन्नति पथ पर बढ़ा चला जा रहा है। (सः) वह (सद्य) शीघ्र ही (पूर्वस्मात्) एक ओर से (उत्तरम् समुद्रम्) दूसरी ओर समुद्र तट तक अथवा पूर्व से उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओं एवं उप-दिशाओं में (एति) पहुँच जाता है, गति करता है। वह (लोकान्) लोकों को, लोगों को, प्रदेशों को (संगृभ्य) संगठित करके (मुहुः) वारम्बार (आचरिक्रत्) उपकार करता है, सुशिक्षा देता है।

भावार्थ—यज्ञशील ब्रह्मचारी उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त करके, उत्तम तेज, सादे वस्त्र, और नवयौवन सूचक दाढ़ी-मूँछ आदि को धारण करता है। सब स्थानों में एवं सब दिशाओं में, दूर-दूर तक उसकी कीर्ति बहुत शीघ्र ही फैल जाती है। अपने प्रभाव और पुरुषार्थ के द्वारा वह लोगों को उत्तम आदर्शों की पूर्ति के लिये एकत्रित, संगठित, प्रेरित और उत्साहित करता है। और उनको वारम्वार उत्तम उपदेश प्रदान करके उन्नत बनाता है।

प्रवचन

१—आनन्द के बाजे बज रहे हैं। राज-पथ सुसज्जित हैं। घरों में मंगलाचार हो रहे हैं। नारी-नर और बाल-वृद्ध सभी नये उत्साह से, और नये आशावाद से परिपूर्ण होकर, प्रसन्नता तथा स्निग्धता पूर्वक हँस रहे हैं, बोल रहे हैं, खेल रहे हैं, गा-बजा रहे हैं। आनन्द का समय है। मस्ती के राग हैं। प्रेम की उमंग और तरंग है। कोई ब्रह्मचारी आ रहा है।

२—करो, करो, उत्साह और प्रेम के साथ ब्रह्मचारी का स्वागत-सत्कार करो। सज्जन पुरुषों को देखकर प्रसन्न होना, और अपनी प्रसन्नता को प्रगट करना, सज्जनों को उत्साहित करना, यही तो मानव-धर्म है। सज्जन पुरुषों को देखकर जलना, कुढ़ना या उनसे ईर्ष्या-द्वेष करना, उनकी श्रेष्ठ प्रगतियों में बाधा डालना, वा उनके उत्तम उत्साह को भंग करना, ये सब बातें बहुत बुरी हैं।

३—ब्रह्मचारियों के स्वागत-सत्कार में प्रतिष्ठा-प्राप्त, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान् भी भाग ले रहे हैं। सत्ता-सम्पन्न शूरवीर भी मौजूद हैं, और धन-कुबेर सेठ-साहूकार भी। कलाकार की कला का सन्मान यदि कलाकार ही न करेंगे, तो और कौन करेगा? ब्रह्मचारी तो सभी का ब्रह्मचारी है। सभी के हित के लिये उसने तप तपा है। सभी के हित के लिये उसने कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया है। सर्वहित उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

४—अपने विविध प्रकार के यज्ञों को प्रवर्तित करके, उनको प्रदीप्त रखने और पूर्ण करने की योग्यता तथा सामग्री ब्रह्मचारी के पास मौजूद है। कोई यह सोचकर न डरे कि ब्रह्मचारी हम से कुछ मांगेगा और हम को किसी बात के लिये सतायेगा। जो परमुखापेक्षी, परतन्त्र, दूसरों की दया पर निर्भर एवं दूसरों के हाथ की कठ-पुतली के समान हो, वह कैसा ब्रह्मचारी? ब्रह्मचारी तो ब्रह्मनिष्ठ होता है। उसे न ऐश्वर्य की कोई कमी होती है, न ज्ञान की। विज्ञान, बल, वीर्य और साधन, सामग्री या सिद्धान्त का कोई अभाव उसे नहीं सताता। अपने साथ गोदाम लाद कर चलने की भी उसे कोई आवश्यकता नहीं। उसकी आवश्यकतायें कम हैं और अपरिग्रह का व्रत है। जहाँ जाता है, आवश्यकता के अनुसार सब कुछ उसे मिल जाता है।

साधु गांठ न बाँधते, उदर समाता लें ।
आगे-पीछे हरि खड़े, जब मांगे तब दें ॥
रूखी और आधी भली, सारी सों सन्ताप ।
जो चाहेगा चूपड़ी, अधिक करेगा पाप ॥

५—यज्ञ की समिधायें ब्रह्मचारी की समृद्धि का प्रतीक हैं । काला-कम्बल ब्रह्मचारी का श्रेष्ठ परिधान भी है, ओढ़ना और बिछौना भी । दाढ़ी और मूँछें उसकी परिपक्व ज्ञान-गरिमा सरलता, साधुता, निष्पापता, कष्ट-सहिष्णुता और त्यागवादी विचार-धारा की परिचायक हैं । उसकी चाल-ढाल, उसका दृष्टि-विक्षेप, उसकी शब्दावलियां, उसकी गति-विधियां आदि, ये सभी उसकी सम्पूर्णता और परोपकार-प्रियता की पोषक हैं । उसके सम्पर्क में आने से सभी को उत्साह, विश्वास, और आनन्द की प्राप्ति होती है । वह एक प्रौढ़ विद्वान् भी है, साहसी खिलाड़ी भी, दुर्दमनीय योद्धा भी और विनम्र सेवक भी ।

६—ब्रह्मचारी के शिव-संकल्प क्रियात्मक रूप धारण करके संसार के सामने मूर्तिमान होने जा रहे हैं । विज्ञान उसकी विशेषताओं का अनुमान लगा रहा है । विज्ञजन प्रफुल्ल-भाव से ब्रह्मचारी की प्रगतियों पर सतर्क-दृष्टि लगाये बैठे हैं । तर्क की कसौटी पर ब्रह्मचारी के शब्दों को कसा जा रहा है । सत्य की तुला में ब्रह्मचारी की प्रवर्त्तनाओं को तोला जा रहा है । खण्डन-मण्डन की भट्टी में तपाकर ब्रह्मचारी की प्रगतियों को परखा जा रहा है । समालोचक-गण अपनी-अपनी समालोचनाओं के द्वारा ब्रह्मचारी के साधन-पथ और कर्तव्य-पथ को पुष्ट एवं प्रशस्त कर रहे हैं ।

७—देखते ही देखते साधारण-सा दिखाई देने वाला वह बाल-ब्रह्मचारी आज एक विशाल संस्था, नहीं-नहीं प्रबल-आन्दोलन का रूप धारण करके संसार के सामने समुपस्थित हो गया है । ब्रह्मचारी के सिद्धान्त और उपदेश सर्वत्र ही सर्वप्रियता प्राप्त कर रहे हैं । ब्रह्मचारी के गुरु का सुयश सर्वत्र फैल गया है । गुरु की विद्या सफल हो गई है । किसी गुरु की महिमा का ठीक-ठीक प्रकाश तभी होता है, जब उसके शिष्य जीवन-संघर्ष में उत्तीर्ण होकर सुयश प्राप्त करते हैं ।

८—पूर्व से पश्चिम तक, उत्तर से दक्षिण तक, नीचे-ऊपर, सागरों में, पर्वतों में, और भू-मण्डल के सभी प्रदेशों में, ब्रह्मचारी के नाम और काम की भारी धूम मच गई है। ब्रह्मचर्य की यह शक्ति कैसी अपूर्व और महान है, जोकि अखिल भू-मण्डल को आन्दोलित करने, परिष्कृत करने और उसे प्रगति-पथ पर अग्रसर करने का अमोघ-सामर्थ्य रखती है ?

९—ब्रह्मचर्य की महानता तथा ब्रह्मचारी की सम्पूर्ण क्षमताओं का उल्लेख तो सम्भव ही नहीं है। फिर भी स्वाध्याय, सूक्ष्म-वीक्षण, और मनन के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने लाभ और उपयोग के लिये ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य को समझ सकता है। ब्रह्मचर्यवाद के सिद्धान्तों की बारम्बार परीक्षा भी की जा सकती है। निर्माण, विकास और उत्थान की सम्पूर्ण मौलिक-शक्तियों और अनुविधाओं का मूलाधार यह ब्रह्मचर्यवाद ही है।

१०—ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान और प्रचार द्वारा हम स्वयं भी ब्रह्मचारी बन सकते हैं और अपनी-अपनी सन्तान-परम्परा तथा शिष्य-परम्परा, मित्र-परम्परा, परिजन-परम्परा आदि को भी ब्रह्मचारी बना सकते हैं। जिस देश, जाति और राष्ट्र में ब्रह्मचर्यवाद की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा होती है, वह अवश्य ही सब प्रकार से उन्नत होता है और अपार-प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

११—स्मरण रहे—काले कम्बल, नंगे शरीर, दाढी-मूँछ, लम्बे बाल, नंगे पांव और शब्दाडम्बर का नाम ही ब्रह्मचर्य नहीं है। ये सब तो ढोंगियों के पास भी मिल जाते हैं। वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य है; परन्तु यह तो सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यवाद का एक अंश वा अंगमात्र ही है। ब्रह्मचर्यवाद का सम्पूर्ण रूप तो सुविशाल है। वह एक श्रेष्ठ जीवन-पद्धति भी है, कर्म-शास्त्र भी, अध्यात्म-शास्त्र भी और प्राकृतिक-विज्ञान भी। सब प्रसंगों में, सब प्रकार के संयम को भी ब्रह्मचर्य ही कहना और समझना चाहिये।

१२—ब्रह्मचर्य का ग्रहण और पालन हमें उसके सर्वांगपूर्ण व्यापक रूप में ही करना चाहिये। कौन ? कितना ? कैसे ? कैसा ? कब ? अनुष्ठान ब्रह्मचर्यवाद का करेगा ? और कर सकेगा ? यह सब हमारी अपनी-अपनी परिस्थितियों, वंश परम्पराओं, सूझ-बूझ और धारणा-शक्ति के आधार पर

निश्चित होगा। इस विषय में न्यूनाधिक और प्रकार-भेद से बहुत-से भेद-प्रभेद ब्रह्मचर्यवाद के सम्भव हैं ; तथापि उसका मौलिक और तात्त्विक रूप तो एक ही है। उसका परिणाम भी एक ही है। विद्वान् उस एक ही ब्रह्मचर्यवाद को पात्र-भेद वा परिस्थिति-भेद के आधार पर कई-कई प्रकार से कहते हैं। जीवन, ज्योति, जागृति, निर्माण, विकास, उत्थान, सत्य, सुन्दर और शिव, ये सब सुफल एकमात्र ब्रह्मचर्य के ही हैं।

१३—मन्त्र में प्रयुक्त "उत्तरं समुद्रम्" शब्दों से किसी को उत्तर-ध्रुव-प्रदेशों का भ्रम भी हो सकता है। परन्तु किसी देश-विशेष की भौगोलिक सीमाओं, या ऐतिहासिक नामों, पक्षों और विवरणों का निरूपण वेदों में किंचित् मात्र भी नहीं है। "समुद्र" शब्द अपने मूल रूप में तो हलचल का ही सूचक है। सम्=एक होकर, सम्यक्तया। उत्=उत्कर्ष के लिये, ऊपर की ओर। द्रु=गति करना, बढ़ना। इस प्रकार समुद्र शब्द का विशेष रूप से मनन करना कर्तव्य है।

१४—अपने लेखों, भाषणों और कार्यों से ब्रह्मचारी-गण शुभ और आनन्द-वर्धक आन्दोलनों को उठाते, चलाते तथा सफल बनाते ही रहते हैं और इस के परिणाम स्वरूप उनका स्वागत-सत्कार सदा, सर्वत्र होता ही रहता है। उनका यश जब बढ़ने लगता है, तब निरन्तर बढ़ता ही जाता है। ब्रह्मचारी और उनका यश देश और काल की सीमाओं में सीमित नहीं रहते। अपनों के अपने तो वे हैं ही, पराये भी उन्हें अपने समझते हैं।

सब मेर-तेर छूटी, भागे सभी बखेड़े।
उस की नज़र में सारे, अपने ही हो गये हैं॥

१५—इस लिये, ओ संसार वालो!!

दूरियों के खट्टे-मीठे, सब मज़े तो चख लिये।
आओ अब बाहम मिलें, कुछ हम बढ़ें, कुछ तुम बढ़ो।

---

७ सर्वोच्च पद का अधिकारी

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो
लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्
गर्भो भूत्वामृतस्य योनौ—
इन्द्रो ह भूत्वा—असुरांस्ततर्ह ॥

अथर्व० ११।५।७

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अमृतस्य) अमृत के, आनन्द के (योनौ) केन्द्र में (गर्भः भूत्वा) गर्भ के समान प्रतिष्ठित होकर (ब्रह्म—आपः) ईश्वर और वेद विषयक कर्मों को (लोकम्) जनवर्ग को, (प्रजापतिम्) राजा को (परमेष्ठिनम्) सर्वव्यापक परमात्मा को (विराजम्) सुप्रकाशित, रज-रहित, सन्देह-रहित (जनयन्) करता हुआ (ह) दृढ़ निश्चय और उत्तम योजना के अनुसार (इन्द्रः) ऐश्वर्य युक्त और जितेन्द्रिय (भूत्वा) बन कर (असुरान्) असुरों को, घातकों को (ततर्ह) कम्पायमान करता है, नष्ट करता है, दूर करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी संसार में सुख, शान्ति और आनन्द की वृद्धि करने वाले रहस्यों का अनुसंधान करता है और वेद-प्रचार एवं आस्तिक-भाव की वृद्धि करके जनता को प्रशिक्षित करता है। राजा को धर्म-मार्ग में चलाता है। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का विधान करता है। और इन विषय में जन-साधारण की सब प्रकार की शंकाओं का समाधान करता है। फिर वह सुनिश्चित कार्य-क्रम के अनुसार सब प्रकार के उत्तम ऐश्वर्य और सुयोग्य साथियों को प्राप्त करके तथा संयम-शील बनकर सब दुष्टों और दुर्गुणों को विनष्ट करता है।

प्रवचन

१—सुख की कामना तो सभी करते हैं ; परन्तु थोड़े मनुष्य हीं ऐसे होते हैं जोकि सुख के स्वरूप को यथावत् जानते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये विधिपूर्वक प्रयत्न करते हैं। भगवान् ने सुख-प्राप्ति के लिये मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण-चतुष्टय, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त सुन्दर शरीर मनुष्य को प्रदान किया है। अन्न और विविध प्रकार के पदार्थों के रूप में अनन्त ऐश्वर्य भी उसके सब ओर बिखरा पड़ा है। फिर भी बहुत थोड़े मनुष्य संसार में ऐसे होंगे, जो पूर्णतया सुखी और शान्त हों। क्यों? बात यह है कि अज्ञान एवं दुरुपयोग के कारण मनुष्य ने अपने सुख के साधनों को भी अपने दुःख का कारण बना लिया है। यद्यपि मानव अपनी ही भूलों से दुःख-जाल में उलझता है; परन्तु एक बार उलझ जाने पर, उसका फिर छुटकारा प्राप्त करना सहज नहीं है।

२—भोग के लिये बल की आवश्यकता है। निर्बल प्रथम तो भोगों को प्राप्त ही नहीं कर सकता, और, यदि किसी प्रकार प्राप्त कर भी ले, तो वह उनका उपभोग नहीं कर सकता। यदि उपभोग भी करे, तो वह उन्हें पचा नहीं सकता। यदि चूर्ण और चटनी की सहायता से कुछ भोजन पचाया भी गया, तो उसमें आनन्द कहाँ? ब्रह्मचारी-गण तो सब प्रकार के बल से युक्त होते हैं। इसलिये सब प्रकार के भोगों का आनन्द भी ब्रह्मचारी ही उत्तमतया प्राप्त करते हैं।

३—ब्रह्मचारी स्वार्थी लोगों के समान अकेले-अकेले ही भोगों का उपभोग नहीं करते। वे जो कुछ भी पाते हैं, उसे यज्ञ-शेष के रूप में बदलते हैं। पुरुषार्थ पूर्वक उसे प्राप्त करते हैं, मिल-बाँट कर खाते हैं। इसके साथ ही वे अपने उपदेशों और क्रियात्मक प्रशिक्षण द्वारा दूसरे नर-नारियों को ऐश्वर्य की प्राप्ति, सुरक्षा और उनके उपभोग की सुखदायक विधियों का परिज्ञान भी कराते हैं। संसार में सुख की वृद्धि और आनन्द की वर्षा ब्रह्मचारियों के प्रधान कार्य हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वेद ने इसी बात का संकेत करने के लिये 'ब्रह्म—आपः" शब्दों का प्रयोग किया है। ज्ञान-धारा और अखण्ड-कर्म-प्रवाह का प्रवर्त्तक ब्रह्मचारी ही तो है।

४—आत्मानुभूति और खोज के आधार पर ब्रह्मचारी-गण ज्ञान, विज्ञान, विद्या और कला की अनेकानेक शाखा-प्रशाखाओं का विचार, प्रचार, अनुसन्धान, संशोधन, प्रवर्तन और आविष्कार करते ही रहते हैं। कोई समाज सुधारक बनकर, अपने सहधर्मियों से डाँट-फटकार खा रहा है। कोई राजनैतिक नेता बन कर अपने ही स्वदेशवासियों के हाथों कष्ट उठा रहा है। कोई दार्शनिक बन कर अपनों के ही हाथों विष के प्याले पी रहा है। कोई कवि, गायक, चित्रकार, शिल्पी, लेखक या खेवट बन कर अनेक प्रकार के अवतापों को सहन कर रहा है। अभावों, कष्टों, विभीषिकाओं आदि मे भी मानो कुछ आनन्द है। तभी तो ब्रह्मचारी-गण स्वेच्छा से ही कण्टकाकीर्ण मार्गों में विचरण करते हैं—

कशिश-ए-रह गुजर-ए-यार कुछ ऐसी है कि हम।
ठोकरें खाते हैं, गिरते हैं, मगर जाते हैं॥
और—
लगी लगन छूटे नहीं, जीभ चोंच जरि जाये।
मीठा कहाँ अंगार में, जाहि चकोर चबाये॥

५—ठीक है, कण्टकाकीर्ण मार्गों पर चलने में भी कुछ आनन्द अवश्य ही है। दूसरों को सुख, शान्ति और आनन्द पहुँचाने का आनन्द। दूसरों के लिये मर-मिटने और अपना सब कुछ न्योछावर कर देने का आनन्द। एक ब्रह्मचारी प्रार्थना करता है—

सफल जीवन हो वर परमात्मन् ! तुमसे मैं यह पाऊँ।
किसी के काम आ जाऊँ, किसी की मौत मर जाऊँ॥

६—सुधारकों के सुधार तभी सफलीभूत होंगे, जब सुधारक स्वयं भी सुधर जायेंगे अर्थात् सुधरे हुए होंगे। सुधरे हुए कहो, या ब्रह्मचारी, एक ही बात है। उपदेशकों के उपदेश तभी प्रभाव करेंगे, जब उपदेशक स्वयं भी अपने उपदेशों के अनुसार आचरण करेंगे। राजाओं और राजपुरुषों के आदेश तभी सफल और स्वीकार्य होंगे, जब राजा तथा राजपुरुष-गण स्वयं भी अनुशासन-प्रिय होंगे। सन्तान तभी श्रेष्ठ, बलवान्, विद्वान्, स्वस्थ और आज्ञानुवर्तिनी होगी, जब माता-पिता भी श्रेष्ठता आदि गुणों से युक्त होंगे।

छात्र तभी विद्यानुरागी, गुरु-भक्त और शिष्ट-मर्यादानुगामी होंगे, जब अध्यापकगण भी विद्यानुरागी, निज-गुरु-अनुरागी, सदाचारी और शिष्ट एवं कर्तव्य-निष्ठ होंगे।

७—आज यह कैसा तमाशा हो रहा है? कैसी विचित्र विडम्बना है? सभी क्षेत्रों में दो-रंगी चालें बड़ी निर्लज्जता के साथ चली जा रही हैं। लोभी त्यागवाद का उपदेश दे रहे हैं। कपटी और क्रूर जन अहिंसा का पाठ पढ़ा रहे हैं। व्यभिचारी और भोगी-विलासी लोग ब्रह्मचर्य के प्रचारक बने फिरते हैं। दुराचारी सदाचार का ढोंग रचकर लेख, और धर्म-ग्रन्थों की टीकायें लिख रहे हैं। सत्य लंगड़ा हो गया। झूठ के पाँव लग गये। शोक! महाशोक!!

८—लोगों ने राजनीति को बच्चों का खेल समझ लिया है। धूर्तों ने राजनीति और धर्म की आड़ में शिकार फाँसने के लिये सर्वत्र ही स्वार्थ के जाल फैला रखे हैं। दुनिया वालो! सुनो और सम्भलो। धर्म तभी कल्याणकारी होता है, जब कि धार्मिक-नेतृत्व का सूत्र-संचालन ब्रह्मचारियों के द्वारा होता है। राजनीति भी तभी सुखदायक होती है, जब नीचे से ऊपर तक, सभी राजपुरुष ब्रह्मचारी होते हैं। व्यापार-व्यवसाय भी तभी कल्याणकारी होते हैं, जब व्यापारी-वर्ग ब्रह्मचारी होता है। ललित-कलायें तभी कल्याण करती हैं, जब कलाकार ब्रह्मचारी होते हैं। विधि-विधान तभी कल्याणकारी होते हैं, जब विधायक-जन ब्रह्मचारी होते हैं। वे ही राजा संसार के लिये मंगलकारी होते हैं, जो ब्रह्मचारी हों। नगरों में कल्याण तभी होता है, जब नागरिक ब्रह्मचारी हों। राष्ट्र में कल्याण तभी होता है, जब राष्ट्र में ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो।

९—दुष्टों के दमन, रोगों के शमन, आक्रान्ताओं के निवारण, दुर्बलों के संरक्षण, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों, दुष्ट विचारों तथा दुःखद पदार्थों के परिहार एवं सज्जनों के सत्कार, प्रेम के विस्तार, शक्ति-संवर्धन दुर्जन-मुख-मर्दन कल्याणकारी गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थों की प्राप्ति, आदि सभी उत्तम कार्यों में सद्भाव-सम्पन्न ब्रह्मचारी गण ही सफल होते हैं।

१०—भक्तिवाद का प्रचार और लाभ तभी होता है, जब भक्तजन

ब्रह्मचारी हों। अन्यथा तो भक्तिवाद जैसा शुभ-कर्म भी भ्रष्टाचार का ही रूप धारण कर लेता है। नास्तिकता का नाश तभी होगा, जब कि सभी आस्तिक-गण अपने जीवन में ब्रह्मचर्य की ज्योति प्रज्वलित करेंगे। उत्थान, निर्माण, विकास, सम्पूर्णता, सफलता और सात्विकता का सच्चा स्वरूप एवं साधक ब्रह्मचर्य ही तो है।

११—ब्रह्म अर्थात् सबके पालक, पोषक और सर्वव्यापक परम-पिता परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करो। धर्माचार्य के प्रतिष्ठित पद पर ब्रह्मचारी को प्रतिष्ठित करो। सर्वोच्च शासक के पद पर ब्रह्मचारी को नियोजित करो। महावीरों के अभिलषित सेनापति पद पर ब्रह्मचारी ही नियुक्त हो। अन्न, धन और ऐश्वर्य के सब भण्डार ब्रह्मचारियों के ही नियन्त्रण एवं संरक्षण में रहें, और वे ही उनका वितरण करें। सेवा और सन्मान के सभी पदों पर ब्रह्मचारियों को बैठाओ, और ब्रह्मचारियों के सन्मान में ही अपना सन्मान समझो। सज्जन पुरुषो! ब्रह्मचारियों के नेतृत्व में रह कर अपना-अपना जीवन सफल कर लो।

१२—पहिले कहा था, आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। प्रस्तुत प्रसंग में गुरुकुल या ब्रह्मचर्य-आश्रम को अमृत का केन्द्र कहा गया है। ऐसा करके अमृत के स्रोत का पता वेद ने मानव-जाति को बतला दिया है। अमृत की प्राप्ति तो उनको ही होगी, जो मनसा, वाचा, कर्मणा अमृत की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होंगे। आगे बढ़ो। पात्र बनो। अमृत का अक्षय भण्डार बस सामने ही है। जी भर कर पान करो।

१३—ऐश्वर्य, सत्ता और शक्ति के सर्वोच्च अधिकारी को वेद की भाषा में "इन्द्र" कहा जाता है। इन्द्र का ही दूसरा नाम शतक्रतु भी है, अर्थात् वह महापुरुष जो सैकड़ों यज्ञों को करता है। इन्द्र शब्द का व्यवहार ईश्वर, राजा, सूर्य, जीवात्मा आदि अनेक अर्थों में होता है। ये सभी गौरवपूर्ण पद हैं। असुरों अर्थात् प्राण-घातकों, दुष्टों, स्वार्थ-परायण लोगों और रोगों का नाश करने वाले अधिकारियों का नाम भी इन्द्र है। जब ब्रह्मचारी सत्ता के उच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है, तब सभी पाप, ताप और अभाव दुम दबा कर भाग जाते हैं।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे,
उर्वी गंभीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी,
तस्मिन् देवा संमनसो भवन्ति ॥

अथर्व० ११। ५। ८

शब्दार्थ—(आचार्यः) आचार्य (इमे उभे) इन दोनों (नभसी) अवकाशों में, ढकनों के समान (उर्वी पृथिवीम्) सुविस्तृत पृथिवी (च) और (गंभीरे दिवम्) गम्भीर द्युलोक को (ततक्ष) निर्मित करता है, निरूपित करता है, तात्विक रूप में ब्रह्मचारी को दिखा देता है, समझा देता हैं। (तपसा) अपने तप से (ते) वे लोक (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी की (रक्षति) रक्षा करते हैं। अथवा ब्रह्मचारी अपने तप से दोनों लोकों से सम्बन्धित ज्ञान की रक्षा करता है। अथवा उच्च-कोटि का आचार्य उन पृथिवी आदि लोकों में आनन्द के संचार के लिये ब्रह्म-चारी की रक्षा करता है। तब (तस्मिन्) उस उभय लोकों से सम्बन्धित ज्ञान के विषय में, अथवा ब्रह्मचारी के विषय में, वा आचार्य के विषय में (देवाः) बड़े-बड़े देव, विद्वान्, राजपुरुष, सब इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत (संमनसः) अनुकूल मन वाले (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ—सुयोग्य आचार्य अपने ज्ञान, और अनुभव के आधार पर अपने शिष्यों को भूगोल और खगोल आदि का सम्पूर्ण ज्ञान देता है। संसार के कल्याण के लिये उनको विद्या, बुद्धि, सदाचार आदि में सब प्रकार से पूर्ण योग्य बनाता है। वे ब्रह्मचारी यत्नपूर्वक उस ज्ञान को धारण करते हैं और उसके द्वारा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं। ज्ञानी और कर्मयोगी जनों के लिये यह संसार सब प्रकार से सुखदायक होता है। जो उत्तम आचार्य, उत्तम

शिष्य और उत्तम ज्ञान के तत्त्व होते हैं, उनका जनसाधारण में, विद्वद्-समाज में और राज-दरबार में सर्वत्र ही विशेष मान किया जाता है।

प्रवचन

१—आचार्य ब्रह्मचारी की ज्ञान-बुभुक्षा को बढ़ाता है, और उसे सब प्रकार का निर्भ्रान्त एवं सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। आचार्य की यह हार्दिक कामना है कि उसका शिष्य-वर्ग ज्ञान-विज्ञान में सबसे बढ़-चढ़ कर सिद्ध हो। यदि कभी शिष्य से पराजित होना पड़े, तो इससे भी आचार्य को प्रसन्नता ही होती है। आचार्य एक-एक करके सम्पूर्ण शास्त्रों, सभी विद्याओं और समस्त कलाओं का सम्यक् ज्ञान शिष्यों को प्रदान करता जा रहा है।

२—प्रत्येक तत्त्व, भाव और पदार्थ के विषय में, सम्पूर्ण लक्षण उदाहरण और रहस्य वह शिष्यों को समझा रहा है। जितनी तथा जैसी यह पृथिवी है, और जो कुछ भी इस पृथिवी पर है, जितना यह सौर-मण्डल है, और जो कुछ भी इस सौर-मण्डल में है एवं, जो इस हमारे सौर-मण्डल से भिन्न, अन्य सौर-मण्डल हैं, और जैसी-जैसी उनकी गति, स्थिति आदि है, उनके विषय में सभी बातें आचार्य शिष्यों को समझा रहा है। जब उत्तम शिष्य और आचार्य एक दूसरे के अनुकूल होते हैं, तभी प्रशिक्षण का वास्तविक लाभ और आनन्द प्राप्त होता है। अन्यथा—

लोभी गुरु लालची चेला।
दोनों नरक में ठेलम-ठेला॥

या—
गुरु लोभी चेला लालची, खेलें दोनों दाव।
भव-सागर में डूबते बैठ पत्थर की नाव॥

३—विद्या-दान की बड़ी महिमा है। अन्य प्रकार के किसी भी दान की तुलना में विद्या-दान अधिक श्रेष्ठ है। सर्वेषामेव दानानां, ब्रह्मदानं विशिष्यते। दान देने से विद्या का भण्डार निरन्तर बढ़ता ही रहता है। विद्या-धन को न चोर चुरा सकता है। और न ही राजा उसे छीन सकता है। विद्या सबका सर्वत्र कल्याण ही करती है। सब धनों से श्रेष्ठ धन भी विद्या ही है।

४—जो आचार्य सुयोग्य शिष्य को विद्या दान देने में कंजूसी, संकोच, प्रमाद, इन्कार या भेद-भाव करता है, वह निन्दा का पात्र है। अयोग्य शिष्यों को तो विद्या का न मिलना ही ठीक है। क्योंकि अयोग्य जनों के पास जाकर विद्या की बहुत दुर्दशा होती है। जब राक्षस लोग साक्षर हो जाते हैं, तब वे और भी बढ़-चढ़कर पाप करने जगते हैं। न्याय-विधान को भंग करने के लिये वे नई-नई युक्तियाँ भी खोच लेते हैं। अतः अयोग्य जनों को पहले पात्रता प्रदान की जाये, फिर विद्या। आर्ष-मर्यादा यही है। इस मर्यादा को भंग करने का फल कभी भी मीठा नहीं हो सकता।

५—आचार्य जिस विषय में शिष्य की विशेष रुचि और योग्यता देखे, उस विषय की शिक्षा उसको पहले दे। विद्या-दान से पूर्व शिष्य की पात्रता की परीक्षा भली प्रकार कर ली जाये। यदि शिष्य की पात्रता में कुछ कमी हो, तो पहले उस कमी को पूर्ण करना चाहिये। शिष्य को भी उचित है कि वह विद्या-ग्रहण में सदा ही सुरुचि और उत्साह का प्रदर्शन करे, सदा ही जिज्ञासु एवं विनम्र बना रहे। विद्या-प्राप्ति की कुञ्जी तो विनम्रता और जिज्ञासा ही है।

६—स्मरण रहे—बहुत कुछ जान लेने पर भी बहुत कुछ जानना शेष रहता ही है। न तो सब कोई सब कुछ जानते हैं, और न सब कुछ जान ही सकते हैं। इसलिये यह नम्रता और जिज्ञासा का भाव तो आजीवन धारण करने योग्य है। सुयोग्य विद्वान् अपनी विद्या का अभिमान कभी नहीं करते। वे अपने अज्ञान को भी भली प्रकार जानते हैं। अतः वे सदा ही विनम्र और जिज्ञासु बने रहते हैं।

७—कहा है:—

जो झुका उसका रुतबा है आली।
झुकती देखी है फलवाली डाली॥

एवमेव—

गर बागे—जहां में है तुझे हिम्मते आली।
कर गरदने-तस्लीम को खम और ज्यादा॥

लेते हैं समर शाखे-समरवर को झुकाकर।
झुकते हैं सखी वकते-करम और ज्यादा॥

८—जो कुछ इस भू-मण्डल पर है, उस सब के विषय में आचार्य अपने शिष्यों को यथार्थ-बोध प्रदान करे। वेद की इस प्रेरणा में अक्षर-विज्ञान, आत्म-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, भूगोल, खगोल, इतिहास, गणित ज्योतिष छन्द, अलंकार, दर्शन, भूगर्भ आदि-आदि सभी विद्याओं का समावेश होता है।

९—यह जगत् क्यों बना ? मैं क्या हूँ ? इसे और मुझे किसने ? क्यों बनाया ? ये और ऐसे ही और भी बहुत-से सनातन प्रश्न हैं। इनके ठीक-ठीक उत्तर दर्शन-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र और प्राणि-विज्ञान के अध्ययन, एवं वास्तविक-दृष्टि से प्रकृति-निरीक्षण द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

१०—हमारी पृथिवी बड़े विस्तार वाली है। इसका पृथिवी नाम ही इसके विस्तार को बता रहा है। इसकी मोटाई आठ हजार मील है। इसका इकहत्तर प्रतिशत भाग समुद्र है। शेष उनत्तीस प्रतिशत भाग स्थल है। यह दैनिक और वार्षिक भेद से अनेक प्रकार की गतियाँ करती हैं। इस पर भी यह सुदृढ़ और स्थिर दिखाई देती है।

११—चौबीस घण्टे में यह पश्चिम से पूर्व की ओर अपनी परिधि में घूमती हुई एक चक्कर पूरा करती है। इससे ही दिन और रात बनते हैं। मोटे हिसाब से तीन सौ पैंसठ दिन में यह सूर्य की एक परिक्रमा पूर्ण करती है और लगभग अट्ठावन करोड़ मील की दौड़ लगाती है। तब इसकी चाल साढ़े उन्नीस मील प्रति घण्टे के हिसाब से होती है।

१२—हमारी इस पृथिवी के समान ही और भी अनन्त पृथिवियां हैं। जैसा यह हमारा सूर्य है, ऐसे और इससे भी बड़े-बड़े और भी अनन्त सूर्य हैं। इस हमारे सौर-मण्डल में नौ बड़े-बड़े गोले हैं। उनके नाम चन्द्रमा, शुक्र, मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, सूर्य, शनि, वारुणी या यूरेनस और वरुण या नेपच्यून हैं। आचार्य का कर्तव्य है कि वह उन सबके विषय में शिष्य को पूर्ण ज्ञान प्रदान करे। और शिष्य का कर्तव्य है कि उस ज्ञान को प्राप्त करे। उसे प्राप्त करके संसार में सुख और शान्ति की अभिवृद्धि के लिये उस ज्ञान का उपयोग

करे। कहीं ऐसा न हो कि शिष्य की अयोग्यता के कारण आचार्य को भी निन्दित और लज्जित होना पड़े।

१३—शिष्य का यह कर्तव्य है कि आचार्य से जो ज्ञान, रहस्य और तत्त्व प्राप्त हों, प्रयत्नपूर्वक उनका संरक्षण करता रहे। ऐसा न हो कि शिष्यों के प्रमाद से आचार्य का दान विलुप्त हो जाये। तभी तो कहा है कि जब उत्तम शिष्य पढ़ने वाले, और उत्तम आचार्य पढ़ाने वाले होते हैं, तभी विद्या का रहस्य खुलता है। श्रेष्ठ व्रतों और आदर्शों की पूर्ति भी ब्रह्मचारी ही कर सकते हैं।

१४—जब पूर्ण विद्वान् एवं सर्वहितैषी जन शुभ कार्यों का आरम्भ करते हैं, तब साधनों, साथियों, सहयोगियों आदि के अभाव, उनके मार्ग में बाधक नहीं होते। उनको ठीक समय पर सब प्रकार के साधन और सहयोगी प्राप्त हो ही जाते हैं। शिव-संकल्पों में बड़ा बल है। शुभ कर्मों की सुगन्धि में अपूर्व आकर्षण है। ब्रह्मचारी जिसके खेवनहार हैं, उसका बेड़ा निसन्देह पार है। जहाँ ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहा सब प्रकार का सुख-चैन होता है।

१५—आचार्य शिष्यों के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करे, और उन्हें रोचक—रीति से सुशिक्षित करता रहे। शिष्य आचार्य के अनुकूल आचरण करें, और उत्साहपूर्वक आचार्य के आदेशों का पालन करते रहें। इस रीति से ज्ञान की वृद्धि होने पर व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सभी का कल्याण होता है। विश्व के छोटे से छोटे घटक वा अंग के लिये भी ब्रह्मचर्य का महत्व बहुत अधिक है। ब्रह्मचर्य का अभाव तो विश्व के सन्तुलन में ही बाधक बन जाता है। सन्तुलन का यह बिगाड़ वैसा ही अवांछनीय है, जैसे शारीरिक वा मानसिक सन्तुलन का अभाव। सन्तुलन के बिगाड़ से तो प्राणि-मात्र को भारी दुखों, रोगों और विपत्तियों का सामना करना पड़ जाता है।

१६—ज्ञान का आदि प्रवर्त्तक तो ज्ञान-स्वरूप परमात्मा ही है; परन्तु परम्परा के अनुसार ज्ञान का प्रचारक होने के कारण गौण-रूप में आचार्य भी ज्ञान का एक प्रवर्त्तक वा प्रकाशक है। शिष्य के लिये तो आचार्य ही ज्ञान का

साक्षात् कर्त्ता है। वही शिष्य के लिये समाधान-दाता और प्रमाण भी है। अपने अनुभव और प्रयोगों के द्वारा आचार्य ज्ञान के सनातन नियमों और तत्वों का उद्घाटन या आविष्कार करता है मानों पृथिवी और आकाश को बनाता है। ब्रह्मचारी शिष्य अपने तप के द्वारा आचार्य द्वारा उद्घाटित वा प्रतिपादित ज्ञान को ग्रहण करके, उसकी रक्षा करता है।

१७—विज्ञ जन ब्रह्मचारी के परिश्रम को देखकर प्रेमपूर्वक सहयोग देते हैं। इस प्रकार आचार्य लौकिक और पारलौकिक दोनों ही मार्गों में अखिल मानवता का पथ-प्रदर्शक बनकर मनुष्य-मात्र का हित-साधन किया करता है। शिष्य अपने आचार्य से जो कुछ ज्ञान, विद्या, रहस्य अथवा उपदेश प्राप्त करता है, उनको वह अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसता है। अपने अनुभव के आधार पर शिष्य आचार्य से प्राप्त ज्ञान में अपेक्षित वृद्धि करता है। संसार का ज्ञान-भण्डार इस रीति से निरन्तर समृद्ध होता चला जाता है। समय आने पर शिष्य आचार्य के कार्य-भार और उत्तराधिकार को प्राप्त कर लेता है। आज का शिष्य ही तो कल का आचार्य है।

१८—यदि कभी किसी कारणवश आचार्य ताड़ना करे, तो शिष्य-वर्ग को घबराना न चाहिये। आचार्य की मार तो शिष्यों के सुधार और उत्कर्ष के लिये ही होती है। क्योंकि—

गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, घड़-घड़ काढ़े खोट।
भीतर हाथ लगायकर, बाहिर मारे चोट॥

९ आचार्य की भेंट

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी
भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपासते
तयोरर्पिता भुवनानि विश्वा ॥

अथर्व० ११ । ५ । ९

शब्दार्थ—(प्रथमः) उच्चकोटि का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (इमाम्) इस (पृथिवीं भूमिम्) सुविस्तृत भूमि को (च) तथा (दिवम्) द्युलोक को भी (तयोः) जिन में कि (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक-लोकान्तर (अर्पिताः) स्थित हैं, (भिक्षाम्) भिक्षा के रूप में (आजभार) प्राप्त कर लेता है । और (ते) उन भूमि और द्युलोक आदि को (समिधौ) यज्ञ की समिधायें (कृत्वा) बनाकर, अर्थात् यज्ञ की समिधाओं के समान समझकर (उपासते) ईश्वर की और आचार्य की उपासना करता है ।

भावार्थ—ब्रह्मचारियों में भी जो श्रेष्ठतम ब्रह्मचारी होता है, वह इस सुविस्तृत वसुन्धरा और सुविशाल द्युलोक को, जिनमें कि अनन्त लोक-लोकान्तर स्थित हैं, और उन-उनके विषय में सम्पूर्ण रहस्यों को भिक्षा के रूप में प्राप्त कर लेता है । उन लोकों, पदों, रहस्यों और सफलताओं को प्राप्त करके, वह ब्रह्मचारी स्वयं भी पुष्ट और सन्तुष्ट होता है, एवं अपने आचार्य को भी पुष्ट और सन्तुष्ट करता है । इस प्रकार उसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, उसे वह संसार के कल्याण और अपने ज्ञान का साधन बनाकर आगे ही आगे बढ़ता जाता है । बड़ी-बड़ी सफलतायें प्राप्त करके भी वह यज्ञ और उपासना—कर्म की उपेक्षा कभी नहीं करता । वह सदा ही विनम्रता पूर्वक उपासना की उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करता रहता है ।

प्रवचन

१—जब ब्रह्मचारी छोटा था और आचार्य-कुल में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा था, तब वह नित्य-प्रति पास के नगर में भिक्षा माँगने जाता था। जो कुछ पाता था, लाकर आचार्य की सेवा में भेंट कर देता था। प्रतिदिन नियत समय पर वह आवश्यक अनुष्ठान सम्पन्न होता था। स्नातक होकर आचार्य से दूर जाकर निवास करने के पश्चात् भी ब्रह्मचारी एक-दूसरे रूप में भिक्षाटन-विधि का परिपालन कर रहा है। जो कुछ पाता है, उसे लाकर आचार्य को भेंट कर देता है।

२—ब्रह्मचारी की विद्या, शोभा, क्षमता, और उसका बल, पद एवं अधिकार, जो कुछ भी है सब आचार्य की कृपा का प्रसाद है। अपनी शिक्षा और सत्-प्रेरणा द्वारा आचार्य ने शिष्य की सफलताओं को पहिले ही सु-निश्चित कर रखा है। शिष्य की सफलतायें वास्तव में आचार्य की ही सफलतायें हैं। शिष्य भी इस रहस्य से अपरिचित नहीं है। तभी तो वह जो कुछ भी पाता है, लाकर विनम्रता पूर्वक आचार्य की सेवा में भेंट करता जाता है। आचार्य के चरणों में उसकी प्रीति दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।

३—देखते ही देखते ब्रह्मचारी ने संसार के एक बहुत बड़े समुदाय को अपना समर्थक अथवा अनुयायी बना लिया है। उसकी योजनायें और उसके शिव-संकल्प द्रुतगति से क्रियान्वित होते रहते हैं। ब्रह्मचारी का नाम और यश तो होता ही है। इसके साथ ही आचार्य की यशोपताका भी ऊँची लह-राने लगी है। आज तो मानो ब्रह्मचारी ने सम्पूर्ण वसुधा को ही भिक्षान्न के रूप में प्राप्त कर लिया है, और प्राप्त करके आचार्य की सेवा में प्रस्तुत कर दिया है। आचार्य के नाम पर ही ब्रह्मचारी के सिद्धान्तों, मन्तव्यों, आयोजनों, आदेशों और उसकी सम्पूर्ण प्रगतियों का संचालन एवं प्रतिपालन हो रहा है।

४—आचार्य के परामर्शों के अनुसार स्पष्टीकरण, भूल-सुधार, निश्चय, निर्धारण आदि के कार्य भी सम्पन्न किये जा रहे हैं। आचार्य के लेखों, वार्तालापों, आदेशों, पत्रों, मन्तव्यों, सूत्रों, श्लोकों सिद्धान्तों और अनुष्ठानों आदि-आदि के अनुसन्धान आदि सैकड़ों गम्भीर-उद्योग जहाँ-तहाँ किये जा रहे हैं। "आचार्यवाद" का एक उत्तम नामकरण भी हो चुका है। संसार को

उससे बहुत-सी ग्राशायें है। सभी ग्राशा ग्रौर उत्साह से परिणामों की प्रतीक्षा में हैं।

५—ब्रह्मचारी के नेतृत्व ग्रौर ग्राचार्यश्री के संरक्षण में समाज, राष्ट्र ग्रौर संसार के सम्पूर्ण ग्रधिवासी एक चित्त होकर, एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। ऐसी महान् क्रान्ति के उदाहरण संसार में बहुत ही कम पाये जाते हैं। ब्रह्मचारी की सफलतायें ज्ञात ग्रौर ग्रज्ञात व्यक्तियों, वर्गों, समाजों, ग्रौर राष्ट्रों की उदारता ग्रौर सहयोगशीलता से प्रति दिन प्रखर एवं परिमार्जित रूप धारण करती जा रही हैं। बहुत बड़े-बड़े परिणामों ग्रौर परिवर्तनों के समारम्भ सम्पन्न हो रहे हैं। वेद इन बड़ी-बड़ी बातों का उल्लेख ब्रह्मचारी द्वारा प्राप्त साधारण भिक्षा के रूप में करता है। भिक्षा तो भिक्षा ही है। वह मुट्ठी भर चून हो, रत्नों का ढेर हो, या भू-मण्डल का राज्य। ब्रह्मचारी जो कुछ पाता है, उसे नियमपूर्वक ग्राचार्य को समर्पित करता जाता है।

६—इतनी बड़ी-बड़ी सफलताग्रों को प्राप्त करके भी ब्रह्मचारी की विनम्रता ग्रौर विनयशीलता में कोई कमी नहीं ग्राई। विनम्रता उसकी विजय-शीलता का एक प्रधान लक्षण है। सफलताग्रों के प्राप्त होने पर भी विनम्रता, यही तो बड़ा हेतु है।

७—बड़ों की इस बड़ाई को देखा। कवि मुखरित हो उठा—

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा ग्राकाश।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिन के पास॥

ग्रौर—

जब मैं था तब हरि नहीं, जब मैं है, हरि नाहीं।
प्रेम गली ग्रति सांकरी, या में दो न समाहीं॥

८—ऐंठ, ग्रकड़, मरोड़, ग्रौर ग्रहंकार ग्रादि तो दुर्गुणी दुर्व्यसनी, पापी ग्रौर ग्रधोगामी जनों के लक्षण हैं। थोथा चना, बाजे घना। जब कोई मनुष्य कोई ऐसा कुकृत्य कर बैठता है, जिसकी स्मृति उसके ग्रन्तरात्मा को प्रतिक्षण कचौटती रहती है, तब वह ग्रपने चारों ग्रौर मिथ्या—ग्रभियान की

एक ऐसी काल्पनिक भित्ति खड़ी कर लेता है कि वह स्वयं अपनी पहुंच से भी परे हो जाता है। बहिष्कार की यह स्थिति किसी भी स्त्री वा पुरुष के लिये अत्यन्त अवांछनीय है।

९—आचार्य और ब्रह्मचारी ने मिलकर एक नये यज्ञ का आरम्भ किया है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आप जो नाम चाहें, वह इस यज्ञ को दें। अश्वमेध कहें, राष्ट्रमेध कहें, सर्वभूत-हित कहें, सर्वोदय कहें, नरमेध कहें, विश्वमेध कहें, और भी सुन्दर नाम इसका रख लें। विश्व-याग की सुप्रदीप्त आग का उज्ज्वल प्रकाश सब के सामने है। आचार्य और ब्रह्मचारी पुरोहित और यजमान् बनकर अपने-अपने स्वाहाकारों से संसार को गुंजायमान कर रहे हैं। "इदन्न मम" का मधुर-राग ऊपर ही ऊपर उठता जा रहा है।

१०—संसार के सम्पूर्ण वैभव और सुख-समुदाय सर्वहित के लिये यज्ञ-कुण्ड में समर्पित किये जा रहे हैं। सब कुछ देकर, सब कुछ प्राप्त करने की यह एक महान कला का अनुष्ठान है, वैदिक-यज्ञवाद का अनुष्ठान। जो कुछ यज्ञ-कुण्ड में होमा जाता है, वह कई-कई गुणा होकर संसार को फिर-फिर मिल जाता है। यज्ञ की महिमा और विलक्षणता का जो कोई साक्षात्कार करना चाहे, करले। आचार्य को देखे। शिष्य को देखे। मन्त्र-पाठ को देखे, स्वाहाकारों और स्वधाकारों को देखे।

११—आचार्य और शिष्य के उद्योग किसी वर्ग-विशेष, पक्ष-विशेष या राष्ट्र-विशेष के लिये नहीं हैं; अपितु वे तो सभी के सब प्रकार के हित के लिये हैं। यही इस विश्व-याग का मूल तत्त्व है। कोई इस तत्त्व को विस्मृत न करे। सफलता का मुख्य साधक यह तत्व ही तो है। स्वार्थ, लोभ, पक्ष-पात, अन्याय, हिंसा, पर-पीड़ा, पर-स्वत्वापहरण, दुश्चिन्तन, और पर-निन्दा आदि दुष्कृत्यों का यज्ञ की पवित्र वेदी के पास क्या काम? "आरे नृहा, गोहा।" नर हत्यारे यहाँ से दूर चले जायें। गो-हत्यारे यहाँ से दूर चले जायें। "आरे नृहा, गोहा।"

१२—यज्ञ के मुख्य उद्देश्य हैं—दोष-निवारण, संगतिकरण, संगठन, संतुलन, समन्वय, असहमत-संगम, सर्वहित। आचार्य और शिष्य की प्रवर्त-

नाम्रों के द्वारा इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति सुनिश्चित और निर्विवाद रूप में हो रही है। आचार्य और शिष्य के शिव-संकल्पों की सम्पूर्णता, उनके आयोजन की आवश्यकता, तथा उनकी सर्वांगपूर्ण सफलता का प्रमाण मिल चुका है। यज्ञ की अग्नि का अब और भी अधिकाधिक चमकना अनिवार्य है। आचार्य और शिष्य ने मिल कर इस पृथिवी के ही नहीं, अखिल विश्व के कल्याण का विधान प्रवर्तित किया है। त्यागवाद के मधुर फल सभी को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होने लगे हैं। न रोटी की चिन्ता रही, न कोई अभाव। घर-घर में मंगल-गान होने और आनन्द के तार बजने लगे हैं।

१३—जिस के पास जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण, कर्म स्वभाव वा पदार्थ है, वह उसका उपयोग सबके हित के लिये करे। सर्वहित के सूत्र को कोई कभी भी हाथ से न छोड़े। दृढ़ता से यज्ञ-मार्ग पर आगे ही आगे बढ़ता चले। किसी प्रलोभन अथवा भय के वश में होकर भी इस यज्ञ-मार्ग से विचलित न हो। यही सच्ची मनुष्यता है।

१४—ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना से मनुष्य की शक्ति में वृद्धि होती है और उसके सभी प्रकार के सन्देह एक-एक करके निवृत्त हो जाते हैं। तत्वज्ञानी लोग किसी भी अवस्था में उपासना-धर्म की अवहेलना नहीं करते। सब देशों, सब कालों और सब प्रकार की परिस्थितियों में उनका उपासना-अनुराग एक-रस बना रहता है।

१५—आचार्य और शिष्य अपने सभी कार्यक्रम अपने निर्धारित लक्ष्य के अनुकूल ही बनाते हैं, जिससे कि उनके यज्ञवाद, त्यागवाद और उपासनावाद में किसी प्रकार का व्याघात न हो। बड़ी से बड़ी सफलताओं के प्राप्त होने पर भी वे उपराम नहीं हो रहे, इससे प्रतीत होता है कि अभी और भी अधिक बड़ी सफलताओं के लिये उनका पुरुषार्थ होता ही रहेगा। श्रद्धापूर्वक ईश्वराभिमुख होना अर्थात् ईश्वर-भक्ति करना, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आस्तिकता को मनसा, वाचा, कर्मणा अपने जीवन में धारण करना, मनुष्य जीवन का चरम-लक्ष्य यही है।

१६—ऊँचे और पवित्र लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये साधन-सामग्री का पवित्र होना भी परमावश्यक है। किसी भी प्रकार के पापों, दोषों,

अश्रद्धा-जन्य मलों, अथवा अविद्या-जन्य कुसंस्कारों से समझौते करके तो इस उपासना-धर्म वा यज्ञवाद का अनुष्ठान न हो सकेगा। साधारण लोगों की दृष्टि तो मेर-तेर में ही उलझी रहती है। लोक-दिखावा उनको अधिक भाता है। लोक-निन्दा का भय उन्हें अधिक डराता है। परन्तु उपासक, वह तो उपासना में मस्त है। न मेर-तेर है, न लोक-निन्दा का भय। आचार्य चमूपति का कथन है—

कहती है बुरा कहे दुनिया,
इस कुलटा को पतियाना क्या ?
जब प्रेम-गली में पांव धरा,
तब अपयश से घबराना क्या ?
उस बिन छवि छैल-छबीले की,
छवि देख आँख झपकाना क्या ?
बिन जीभ अनाहत नाद हुआ,
कर आहत जीभ थकाना क्या ?

१७—परम-प्रेम की पराकाष्ठा यही है—

प्रेम न जाने नियम-व्रत, प्रेम न बुध-व्यवहार।
प्रेम-मगन जब मन भया, कौन गिने तिथि-वार॥

---

१० दो ख़ज़ाने

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्टाद्
गुहानिधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी
तत् केवलं कृणुते ब्रह्मविद्वान्॥

अथर्व ११। ५। १०

शब्दार्थ :—(अन्यः) एक तो (अर्वाग्) समीप है, और (अन्यः) दूसरा (दिवः पृष्टात् परः) द्युलोक के पीछे बहुत परे है। (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (निधी) ये दो धन-कोष (गुहा) गुफा में, (बुद्धि रूपी कन्दरा में) (निहितौ) गुप्त हैं। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) अपने पुरुषार्थ से (तौ) उन दोनों की (रक्षति) रक्षा करता है। परन्तु (तत्) उस इस रक्षा-कर्म को (केवलम्) एकमात्र (ब्रह्म) ब्रह्म को, वेद को, ईश्वर को, पूर्णतत्त्व को (विद्वान्) जानने वाला ही (कृणुते) कर सकता है।

भावार्थ—अभ्युदय और निःश्रेयस मानव-जीवन के ये ही दो चरम-लक्ष्य हैं। इन की प्राप्ति शुद्ध-बुद्धि और सतत-साधना के द्वारा ही सम्भव है। जो ईश्वर का एक-निष्ठ उपासक ब्रह्मचारी होता है, वही इन दोनों कोषों का संरक्षण और साधन करने में सफल होता है। साधारण लोगों के लिने तो ये लक्ष्य सदा ही दूर बने रहते हैं। ब्रह्मचारियों में भी केवल मात्र वही सफल होता है, जो वेद के पठन-पाठन में दक्ष, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्रभु का परिपक्व उपासक और पूर्णतया सत्यशील होता है।

प्रवचन

१—दो बड़े धन-कोष हैं, जिनकी प्राप्ति मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य है। प्रथम-कोष का नाम अभ्युदय है, दूसरे का नाम निःश्रेयस। अभ्युदय और निःश्रेय के साधकोपाय का नाम ही धर्म है। धर्म को ही व्यापक अर्थों में ब्रह्म भी कहते हैं।

२—साधारण स्वावलम्बन से लेकर चक्रवर्ती-राज्य पर्यन्त ऐश्वर्य और स्वतन्त्रता की प्राप्ति का नाम अभ्युदय है। अभि+उदय=अभ्युदय। सब प्रकार से, सब दिशाओं में, सब प्रदेशों में, सब शुभ कार्यों में, सबके हित के लिये, सब प्रकार के सामर्थ्य की प्राप्ति, सब प्रकार के भौतिक-ऐश्वर्य की उपलब्धि और सब प्रकार की सांसारिक उन्नति, यह अभिप्राय अभ्युदय शब्द का है। अभ्युदय का व्याख्यान और भी कई प्रकार से होता है।

३—एकाग्रता और साधारण आत्म-संतोष से लेकर मोक्ष-प्राप्ति-पर्यन्त प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के स्वरूप-बोध, सूक्ष्म नियमों और तत्वों के

परिज्ञान, योग-सिद्धियों में सफलता, जीवन की उच्चतर भूमिकाओं में प्रवेश और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति अर्थात् अनन्त-काल—परान्तकाल के लिये त्रिविध तापों से सर्वथा छुटकारा मिल जाये, ऐसी सभी आत्मिक उन्नतियों का ग्रहण निःश्रेयस शब्द से होता है। तथापि निःश्रेयस शब्द का प्रयोग मुख्य-रूप में मोक्ष के लिये ही होता है। निःश्रेयस का स्वतन्त्र व्याख्यान और भी कई प्रकार से होता है।

४—दो मार्ग हैं, जिन पर श्रेष्ठ मानव चलते हैं। एक प्रेय-मार्ग है, दूसरा श्रेय-मार्ग। सांसारिक भोगों और ऐश्वर्य की प्राप्ति एवं बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, माता-पिता, पुत्र-कलत्र आदि की प्राप्ति और मोह-ममतामय जीवन को प्रेय-मार्ग कहते हैं। प्रेय-मार्ग अप्रधान तो हैं, परन्तु यह निषिद्ध-मार्ग नहीं है। सुविचार और सतर्कता के साथ यदि प्रेय-मार्ग का अनुसरण किया जाये, तो अन्त में प्रेय-मार्ग से भी कई प्रकार के आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होते हैं और प्रेय-मार्ग ही श्रेय-मार्ग का साधन अथवा श्रेय-मार्ग का पूर्वरूप बन जाता है। प्रेय-मार्ग को ही प्रवृत्ति-मार्ग भी कहते हैं। इसका व्याख्यान पितृ-यान के रूप में भी होता है। यह मार्ग पूर्णतया अभ्युदय के अन्तर्गत है।

५—श्रेय-मार्ग त्याग-प्रधान, सूक्ष्म-विचार-प्रधान और ईश्वरोपासना का मार्ग है। सुख तो प्रेय-मार्ग के अनुष्ठान से भी मिलता है; परन्तु प्रथम तो वह चिर-स्थायी नहीं होता, दूसरे वह कुछ कुप्रवृत्ति-वर्धक और कुरुचिकर भी होता है। उसमें एक बड़ा विकार यह भी है कि जब तक वह प्राप्त नहीं होता, तब तक तो वह आकर्षक प्रतीत होता है और जब प्राप्त हो जाता है, तब शीघ्र ही रूखा, फीका, फुसफुसा-सा और अस्वादु एवं अरुचिकर प्रतीत होने लगता है। पेट भी उससे शीघ्र ही भर जाता है, और मन भी। इस पर भी अतृप्ति तो बनी ही रहती है। उस अतृप्ति की निवृत्ति के उपाय को ही श्रेय-मार्ग कहते हैं। श्रेय-मार्ग का ही दूसरा नाम निवृत्ति-मार्ग है। इसका ही व्याख्यान देव-यान के रूप में भी होता है। यह मार्ग निःश्रेयस के अन्तर्गत है।

६—प्रेय-मार्ग का अन्तिम और सर्वोच्च-लक्ष्य अभ्युदय है। श्रेय-मार्ग का अन्तिम-लक्ष्य मोक्ष है। अभ्युदय की प्राप्ति कोई साधारण सिद्धि नहीं है।

तथापि वह मोक्ष की तुलना में तो अत्यन्त गौण है। परान्त-काल पर्यन्त अमर-जीवन की तुलना में जन्म, मरण, वृद्धत्व और रोगादि से ग्रसित भौतिक ऐश्वर्य के भार से व्यथित और क्षण-भंगुरता की चोटों से प्रताड़ित सांसारिक उत्कर्ष की सर्वोच्च अवस्था भी मुमुक्षुजनों को अरुचिकर ही होती है। हाँ, अभ्युदय के प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके ही मुमुक्षु-आत्मा निःश्रेयस की प्राप्ति में उत्साही और सफल होते हैं; भली प्रकार विचार करके अपना निश्चय कर लीजिये। दुविधा में पड़े रहने का परिणाम ठीक न होगा।

ओम् नाम कड़वा लगे, मीठा लागे दाम।
दुविधा में दोनों गये, माया मिली न नाम॥

और—

चींउटी चावल ले चली, आगे मिल गई दाल।
कहे कबीर दोऊ ना मिलें, इक ले दूजी डाल।

इसलिये—

दो-रंगी छोड़ दे, यक-रंग हो जा।
सरासर मोम बन, या संग हो जा॥

७—यदि आप का लक्ष्य संसार है, तो वह यह आपके सामने वर्तमान है। जितना भोग सको, इसका भोग करो। "वीरभोग्या वसुन्धरा।" भोग के लिये भी बल और विवेक की आवश्यकता है। और, उस बल एवं विवेक की प्राप्ति भी ब्रह्मचर्य के पालन से हो सकती है। संसार का नियम है—

यह दुनिया मनदी ज़ोरां नूं।
लख लानत है, कमज़ोरा नूं॥

८—हाँ, देखना, भोग की भी एक शर्त है। वह यह कि भोग त्याग-पूर्वक हो। ऐसा करने से उपभोक्ता का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ेगा नहीं। एक सावधानता और—सभी काम ईश्वर को सर्वरक्षक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा मानकर निष्कामभाव से करना। ऐसा करने से मनुष्य पाप-पंक में गिरने से बच जाता है, कर्म-बन्धन में वह लिप्त भी नहीं होता।

९—यदि आप का लक्ष्य निःश्रेयस है, तब तो निस्सन्देह बहुत ही उत्तम है। इसके लिये आपकी जितनी भी प्रशंसा की जाये, उतनी ही कम है। परन्तु मनमोदक खाने से तो किसी का मुँह मीठा नहीं होता, न बल बढ़ता है, न क्षुधा की निवृत्ति ही होती है। निःश्रेयस की सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रकृति-दर्शन, आत्म-दर्शन, और परमात्म-दर्शन के सनातन और महर्षियों द्वारा अनुभूत एवं अनुमोदित अनुष्ठान कर्तव्य हैं।

१०—यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधिस्वरूप अष्टाँग-योग तथा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना के कठिन मार्ग पर चलना होगा। शक्ति के अपव्यय को रोकना होगा। युक्त आहार-विहार करना होगा। नियम पूर्वक सोना और जागना होगा। तभी सिद्धि की कुछ आशा की जा सकेगी। क्रियात्मक अनुष्ठान के अभाव में, न तो कभी किसी को सिद्धि मिली है, और न मिल ही सकती है। जो लोग सस्ती-मुक्ति के अभिलाषी होते हैं, वे लोभी और धूर्त्त तथाकथित गुरुओं आदि के हाथों में फंस कर अपना जीवन-धन व्यर्थ ही खोते रहते हैं।

आछे दिन पाछे गये, हरि से किया न हेत।
अब पछताये होत क्या ? चिड़ियां चुग गई खेत॥
और—
केरा तबहूँ न चेतिया, जब ढिग लागे बेर।
अब के चेते क्या भया ? कांटों ने लिया घेर॥

११—जो सच्चे प्रभु-भक्त, पुरुषार्थी कर्मयोगी, ज्ञान-मार्गी, ब्रह्म-परायण और ईश्वर के प्रति दृढ़ एवं उत्कट प्रेम-धारण करने वाले होते हैं, वे ब्रह्मचारी ही अपने पुरुषार्थ और आचार्य की कृपा एवं प्रभु की दया से निःश्रेयस के भागी होते हैं। यह मनुष्य-योनी ही निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का द्वार है। नरतन ही मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वश्रेष्ठ और अनिवार्य साधन है। ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इस जीवन में ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो जाये। यदि यह जीवन भोग-विलास की भेंट चढ़ जायेगा, तो फिर न जाने कब ऐसा अवसर हाथ आयेगा ?

मुंह-हाथ धोलो, नहा लो, यह बह रही है गंगा।
कुछ करलो, नौजवानो ! उठती जवानियां हैं॥

१२—दो खजाने हैं। उन दोनों की प्राप्ति के दो मार्ग हैं। ब्रह्मचारी ही उन खजानों को प्राप्त करते हैं, ब्रह्मचारी अर्थात् सन्यासी, मिताचारी, दृढ़-व्रती, शिव-संकल्पवान् और उत्कट ईश्वर-प्रेमी जन। ब्रह्मचारी ही उन दोनों खजानों एवं मार्गों के रक्षक भी होते हैं।

१३—प्रस्तुत-प्रसंग में वेद ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना यह दी है कि उक्त दोनों खजाने ब्रह्मचारी के ही बौद्धिक-भण्डार में गुप्त एवं सुरक्षित हैं। जो साधारण और मन्द बुद्धि वाले लोग हैं, वे तो इन खजानों को देख भी नहीं सकते। ब्रह्मचारी ही इनको देखते हैं और वे ही इनका लाभ भी उठा सकते हैं। बुद्धि में सुरक्षित होने की सूचना से ही यह भी स्पष्ट है कि ये खजाने ज्ञान-स्वरूप, संकल्प-स्वरूप, विचारधारा-स्वरूप ही हैं। एक उत्तम प्रकार की मनोवृत्ति-स्वरूप भी हम इनको कह सकते हैं।

१४—प्रशिक्षण, उपदेश, लेख, आवेश, चिन्तन और संकल्प-शक्ति द्वारा इन खजानों के लाभों का आंशिक आदान-प्रदान भी सम्भव है। उत्तम शिक्षाओं के प्रचार का यह भी एक आधार है। भौतिक-धन के समान ही ज्ञान-धन की भी गतियां, श्रेणियाँ, कोटियाँ और मात्रायें होती हैं। ज्ञान-धन का भी उपभोग और दान होता है। ऐसा न होने पर भौतिक-धन के समान ही ज्ञान-धन के भी नाश की आशंका उपस्थित हो जाती है।

१५—अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्गों के संरक्षण का भी बड़ा महत्त्व है। संरक्षण का यह महान् आयोजन ब्रह्मचारियों की सहृदयता से सफल होता है। यदि ब्रह्मचारी-गण अपने शारीरिक और आत्मिक सुखों का परि-त्याग करके इन मार्गों का संरक्षण न करें और त्रिविध तापों से संतप्त-संसार को उनका उपदेश न दें, तो इससे मानवता की भारी हानि होगी। तब तो मानवता के विकास का मार्ग ही रुद्ध हो जायेगा; परन्तु ब्रह्मचारी गण सदा ही सजग रहते हैं। निष्ठुरता उनके स्वभाव में है ही नहीं।

कवि के शब्द हैं :—

सन्त, विटप, सरिता, गिरि, धरनी।
पर-हित हेत सबन की करनी॥

सन्त हृदय नवनीत समाना ।
कविन कहा, पर कहा न जाना ।।
निज-परिताप द्रवेंहि नवनीता ।
पर-दुःख द्रवेंहि सन्त सुपुनीता ।।

---

११ जीवन-ज्योति

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या,
अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढ़ास्-
तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ।।

अथर्व० ११।५।११

शब्दार्थ—(अन्यः) एक तो (अर्वाक्) इधर हैं, सुप्राप्य हैं, और (अन्यः) दूसरा (पृथिव्याः) पृथिवी से (इतः) दूर है। (इमे) ये दो (अग्नी) अग्नियाँ (नभसी) द्युलोक और पृथिवी लोक के (अन्तः) अन्दर, मध्य में (आ-सम्-एतः) सब ओर व्याप्त होकर गति कर रही हैं। (तयोः) उन दोनों अग्नियों की (दृढ़ा रश्मयः) प्रचण्ड किरणें (अधि श्रयन्ते) बहुत अधिक श्रेष्ठ हैं। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तान्) उनको (तपसा) पुरुषार्थ के द्वारा (आतिष्ठति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—अग्निदेव अनेक रूपों में रहकर, संसार में जीवन, ज्योति और जागृति का प्रसार कर रहा है। भौतिक-अग्नि को तो सभी जानते हैं। दूसरा दूरवर्ती अग्नि सूर्य है। अथवा एक तो स्थूल-अग्नि है, दूसरा सूक्ष्म-अग्नि है, जोकि अदृश्य है। ब्रह्मचारी अपने ज्ञान, विज्ञान, अनुसन्धान और पुरुषार्थ

के आधार पर अग्नि के विविध रूपों और रहस्यों का साक्षात्कार करता है और उनको लोकहित के अनेक विध रूपों में प्रज्वलित करता है। वाष्प-विज्ञान, विद्युत-विज्ञान, किरण-विज्ञान, अणु-विज्ञान, सूर्य-विज्ञान आदि अग्नि-विद्या के अनेक भेद-प्रभेद हैं। ब्रह्मचारी ही इनके रहस्यों के उद्घाटन और अनुष्ठान में समर्थ होते हैं। ईश्वरोपासना, आत्म-दर्शन तथा परमात्म-दर्शन का साधक अध्यात्मवाद भी एक अन्य प्रकार का अग्नि-विज्ञान है। इस प्रकार अग्नि-विज्ञान के दो भेद हैं, एक भौतिक, दूसरा अभौतिक। ब्रह्मचारी इन दोनों का उपयोग करते हैं।

प्रवचन

१—वेद अपने बिभिन्न प्रसंगों में विविध प्रकार से अग्नि-विद्या का उल्लेख करता है। यदि अग्नि के पर्यायवाची सभी शब्दों का विचार किया जाये, तब तो यही कहना होगा कि वेदों में 'अग्नि-विद्या' का उपदेश ही सबसे अधिक है। तभी तो वेदार्थ-शैली से अनभिज्ञ आधुनिक-काल के पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् भी यह कहते हैं कि वेदों में तो अग्नि आदि जड़-पदार्थों के उल्लेख भरे पड़े हैं। ऐसे लोगों को वैदिक अग्नि-विद्या का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अग्नि के प्रसंग में, मानो उनकी गति साधारण आग से आगे कुछ भी नहीं है। यद्यपि लोक में अग्नि-विद्या के अनेक रूप और चमत्कार वे प्रतिदिन देखते हैं, फिर भी वेदों में अग्नि-विद्या के सूक्ष्म-रूपों का विचार उनको मान्य नहीं। इसको पक्षपात कहें, या दुराग्रह? अथवा इस स्थिति का कारण उनके अज्ञान को समझा जाये? यह भी एक उलझन ही है।

२—एक आग तो यह है ही, जिससे हम प्रतिदिन अपने नाना प्रकार के लोक-व्यवहारों को सिद्ध करते हैं। परन्तु इस आग के भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं। भौतिक-विज्ञान की जो उन्नति वर्तमान-युग में हुई है, उससे अग्नि-विद्या के बहुत से गुप्त भेद प्रकाश में आ गये हैं। न केवल यह कि संसार को उनका परिचय मिल गया है, अपितु वे संसार के सुपरिचित और निकटवर्ती सहायक वा साथी भी बन चुके हैं। ताप-विज्ञान, विद्युत-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान, अणु-विज्ञान आदि सब अग्नि-विद्या के ही तो शाखा-भेद हैं।

३—सूर्य-विज्ञान भी अग्नि-विद्या का ही एक अंग है। परन्तु सूर्य-विज्ञान के विचार और उपयोग के लिये, साधारण अग्नि-विज्ञान की अपेक्षा कुछ अधिक विद्या, विवेक, अनुसन्धान और साहस की आवश्यकता है। प्रकाश-विज्ञान, किरण-विज्ञान, आकर्षण-विज्ञान चन्द्रादि ग्रहों-उपग्रहों की गति, उन-उन के पारस्परिक-सम्बन्ध, काल-विचार, दिन-रात का गमनागमन, ऋतुओं का परिवर्तन, हमारे सौर-मण्डल का अन्य सौर-मण्डलों से सम्बन्ध, ये सभी प्रश्न बहुत गम्भीर हैं। मानव का सामान्य-ज्ञान इनकी विशद व्याख्या के लिगे पर्याप्त नहीं है।

४—एक यह पृथिवी की आग है, दूसरी दूरवर्ती द्युलोक की आग। पृथिवी और द्युलोक के बीच में जो विशाल अन्तरिक्ष है, उसमें भी कई प्रकार की अग्नियाँ भरी पड़ी हैं। पदार्थ-विद्यावादी जनों ने अग्नि-विद्या को आधार बनाकर, वैज्ञानिक आविष्कारों के रूप मे वहुत बड़े-बड़े चमत्कार प्रस्तुत कर दिये हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में भी अग्नि-विद्या का उपयोग नये-नये प्रकार से होने लगा है। तथापि इन सभी दिशाओं और क्षेत्रों में और भी अधिक कार्य होना अभी शेष है। नित्य-प्रति नये-नये तत्त्व सामने आते जा रहे हैं। लक्षणों के आधार पर कहा जा सकता है कि जो कुछ ज्ञात हो चुका है, उससे बहुत अधिक अग्नि-विद्या का स्वरूप अभी अज्ञात है। और उसे जानने का यत्न हो रहा है।

५—आध्यात्मिक-जीवन में भी अग्नि-विद्या को बहुत अधिक महत्व प्राप्त है। आत्मा अग्नि है। परमात्मा अग्नि है। धर्म अग्नि है। प्रकृति का ग्रहण भी अग्नि शब्द से होता है। राजा, संन्यासी, आचार्य, सेनापति, और ब्रह्मचारी प्रभृति बहुत से अर्थों में अग्नि शब्द का व्यवहार होता है। आध्यात्मिक-अग्नि की तुलना में साधारण अग्नि-विद्या और सूर्य-विज्ञान इन दोनों को एक ही मानना चाहिये। अर्थात् अग्नि-विद्या के सभी मौलिक रूपों वा भेदों का एक भौतिक-पक्ष निर्धारित होता है। आध्यात्मिक-अग्नि से तुलना करते समय साधारण अग्नि का परिज्ञान तो थोड़े यत्न से सभी को हो सकता है; परन्तु आध्यात्मिक-अग्नि साधारण लोगों की पहुँच से परे है।

आध्यात्मिकता की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिये असाधारण योग्यता तथा साधना की आवश्यकता है।

६—अग्नि-विद्या का एक सिद्धान्त है। रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है। समुद्रों में कभी-कभी बड़वानल की उत्पत्ति होती है। वह विशालकाय जल-तरंगों का एक अद्‌भुत चमत्कार है। आकाश में उड़ती हुई दो मेघ-मालायें आपस में टकराती हैं। भीषण कड़कड़ाहट के साथ दामिनी की दमक सभी को चकाचौंध करती हुई निकल जाती है। दो पदार्थों के सन्धि-स्थान में, अथवा यूँ कहें कि सीमा-प्रान्तों में, जहाँ संस्पर्ष और घर्षण-मर्षण की क्रियायें-प्रतिक्रियायें प्रायः उत्पन्न होती ही रहती हैं, वहाँ-वहाँ अग्नि की उत्पत्ति प्रायः होती ही रहती हैं। वेद में भू-लोक और द्युलोक दोनों के सीमा-प्रान्त में अग्नि तथा अग्नि-तरंगों का जो उल्लेख हुआ है, वह विशेषरूप से मनन करने योग्य है। कहा भी है—

अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन से होई॥

७—आध्यात्मिक-अग्नि का विचार और व्यवहार विशेष रूप से मानव जीवन में ही होता है। मानव-जीवन को आश्रम-व्यवस्था के अनुसार चार भागों में विभाजित किया गया है। चारों आश्रमों के बीच में तीन अन्तर अथवा तीन सीमा-प्रान्त वर्तमान हैं। पहला सीमा-प्रान्त ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों के मध्य में है। दूसरा सीमा-प्रान्त गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रमों के मध्य में है। तीसरा सीमा-प्रान्त वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों के मध्य में है। सीमा-प्रान्त कहें, या सन्धि-स्थान वा अन्तर, बात एक ही है।

८—इन तीनों प्रान्तों वा स्थानों में, तीन प्रकार की तीन अग्नियां उत्पन्न होती हैं। उन तीनों अग्नियों के ताप को सहन करना और उनमें होकर सकुशल पार निकल जाना, यही मानव-जीवन की सफलता है। इन तीन अग्नियों को तीन कर्म भी कहते हैं। इन तीनों के पृथक्-पृथक् नाम भी शास्त्रों में रखे गये हैं। प्रथम अग्नि ज्ञान है। दूसरी अग्नि कर्म। तीसरी अग्नि उपासना है। तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण इन तीनों को पार करने अथवा इन तीनों

से ऊपर उठने का उपदेश भी चार आश्रमों के तीन सीमा-प्रान्तों में वर्तमान इस त्रिविध अग्नियों के विचार में वर्तमान है।

९—औपनिषदिक-परिभाषा में इस त्रिविध अग्नि-समुच्चय को त्रिणाचिकेत-अग्नि कहा जाता है। दैनिक अग्नि-होत्र में यज्ञ-कर्ता आठ-आठ अंगुल की तीन समिधायें घी लगाकर यज्ञ-कुण्ड में अर्पित करता है। यह कोई जादू-टूना नहीं है। वैदिक-आध्यात्मवाद का यह एक स्थूल-प्रतीक मात्र है। घी जीवन, शक्ति और स्निग्धता का सूचक है। प्रथम समिधा ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में, दूसरी गृहस्थ से वानप्रस्थ में और तीसरी वानप्रस्थ से सन्यास में प्रवेश की सूचक है। तीनों सन्धियों और चारों आश्रमों की पूर्णता ही इस अग्नि-विद्या की पूर्णता है। यही ब्रह्म-यज्ञ है, यह देव-यज्ञ है। सन्यासी तो स्वयं ही अग्नि रूप है। अग्नि का लक्षण दाहक है। कर्मरूप में वह प्रकाशक और पावक है। अग्नि की उर्ध्वगति होती है। सन्यासी का वेश उसके विमल अग्निरूप का सूचक है। उसने ज्ञानोपार्जन किया है। कर्मयोग का अनुष्ठान करके उसने उच्चतर भूमिकाओं में प्रवेश प्राप्त कर लिया है। उपासना के द्वारा वह प्रभु-दर्शन के द्वार को खटखटा रहा है।

१०—इन सभी प्रकार की अग्नियों का विधिपूर्वक विचार, धारण, पोषण और संरक्षण आचार्य से साँगोपाँग प्रशिक्षण प्राप्त करके कोई ब्रह्मचारी ही कर सकता है। अग्नि-विद्या से लाभ तो सभी उठा सकते हैं, परन्तु अग्नि-विद्या का प्रज्वलन करने वाला या प्रयोक्ता तो कोई गुरु का लाल ब्रह्मचारी ही होना चाहिये। यदि अग्नि-विद्या से अनभिज्ञ लोग इस क्षेत्र में आने की चेष्टा करेंगे, तो बड़े-बड़े विस्फोट होंगे। उनके हाथ-मुँह तो जलेंगे ही और भी बहुत से अनर्थ हो जायेंगे। जैसे किसी अबोध बालक का चाकू से खेलना उचित नहीं, वैसे ही अनधिकारी जनों का भौतिक-अग्नियों के सूक्ष्म भेद-प्रभेद पूर्ण क्षेत्रों में प्रवेश करना भी उचित नहीं। इसी प्रकार यम-नियम आदि के अभ्यास से शून्य लोगों का आध्यात्मिक-क्षेत्रों में प्रवेश भी अनुचित है। यम-नियम आदि के अनुष्ठान के अभाव में तो सम्पूर्ण उपासना-काण्ड एक बड़ा ढोंग ही बन जाता है।

११—भौतिकवाद और आध्यात्मवाद दोनों की ही शिक्षा और उन्नति मानवता के हितार्थ आवश्यक है। इन दोनों में जो विरोध पाया जाता है, उसका कारण मनुष्यों का अज्ञान ही है। ये दोनों वाद एक-दूसरे के पूरक और मानवता के परम सहायक हैं। भोग का विचार या रोटी का सवाल सर्वथा ही त्याज्य नहीं है। परन्तु वह आत्मिक-उन्नति में बाधक न हो, इतना ध्यान अवश्य रखा जाये। इसी प्रकार अध्यात्मवाद भी रोटी के सवाल की उपेक्षा न करे।

कबिरा क्षुधा है कूकरीं, करे भजन में भंग।
इसको टुकड़ा डारि के, सिमिरन करो निसंग ।।

१२—ब्रह्मचारी भौतिक-अग्नि-विद्या में निपुणता प्राप्त करता है और अभौतिक-अग्नि-विद्या में भी। वह आध्यात्मिक अग्नि-विद्या का पूर्ण मर्मज्ञ होता है। अपने ज्ञान, कर्म और उपासना के बल से ब्रह्मचारी अपने जीवन में जो जीवन-ज्योति प्रज्वलित करता है, उसके प्रकाश से सारा संसार जगमगा उठता है। उसका फैलाया हुआ प्रकाश शताब्दियों तक मानवता का पथ-प्रदीप बना रहता है।

---

१२ गृहस्थाश्रम

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिंगो
बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिचति सानौ रेतः
पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।।

अथर्व० ११। ५। १२

शब्दार्थ :—(अरुणः) कान्तिमान् (शितिगः) उज्ज्वल और सुदृढ़ अंगोंवाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी, मेघ (अभिक्रन्दन) गरज-गरज कर (स्तनयन्) आनन्द का सवर्धन करता हुआ (भूमौ) संसार में (बृहद् शेपः) उत्तम प्रजनन शक्ति को, उत्तम अंगोंवाली स्त्री को, उत्तम भूमि को (आजभार) प्राप्त करता है। और वह (सानी) उत्तम स्त्री में, उत्तम भूमि में (रेत) वीर्य को, जल को (सिंचति) सेंचता है। (तेन) उसके इस कर्म से (पृथिव्याम्) संसार में (चतस्रः प्रदिशः) चारों ओर की सब प्रजायें=मनुष्य, पशु पक्षी, वनस्पति, आदि प्राणी (जीवन्ति) नव-जीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :—श्रेष्ठ ब्रह्मचारी के गुण, कर्म और स्वभाव श्रेष्ठ मेघ के समान होते हैं। मेघ भी एक प्रकार से उर्ध्वरेता और अमोघवीर्य ब्रह्मचारी ही हैं। उत्तम विद्या और बल, वीर्य आदि सद्गुणों से सम्पन्न ब्रह्मचारी ही उत्तम कुल की, उत्तम गुण, कम और स्वभाव वाली एवं उत्तम लक्षणों से युक्त नवयुवती पत्नी को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जब माता, पिता और गुरुजन श्रेष्ठ ब्रह्मचारी होते हैं, तब उनकी सन्तान भी श्रेष्ठ ब्रह्मचारी होती है। मेघों के समान ही ब्रह्मचारी भी संसार में नव-जीवन और आनन्द की वृद्धि करनेवाले होते हैं। जब संसार में श्रेष्ठ नागरिकों की वृद्धि होती है, तभी संसार में सुख और शान्ति की स्थापना होती है। प्राणिमात्र के उद्धारक और उत्पादक सभी तत्त्व ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

प्रवचन

१—ग्रीष्म-ऋतु का तपाया और सताया हुआ संसार देर से वर्षा की कामना कर रहा था। काले-काले और भूरे-भूरे मेघ-मण्डल शोभनीय जल-भण्डारों को लेकर गरजते और बरसते हुए आये। झड़ियाँ लगी हुई हैं। मोर केका-ध्वनि करके नाच रहे हैं। पशु-पक्षी आनन्द मना रहे हैं। कृषक-वर्ग प्रसन्न है। ग्रीष्म का अनुताप ही नहीं मिटा, वह धूल भी मिट गई, जो उड़-उड़ कर आँखों में गिरती थी, तन मैला करती थी, सुपथ में बाधा स्वरूप थी। अब तो चारों ओर हरयाली ही हरयाली फैली हुई है। यह मेघ मानों कोई उर्ध्वरेता और अमोघ-वीर्य ब्रह्मचारी ही है। जल को धारण करने में भी यह दक्ष है और उत्तम क्षेत्र में जल-प्रसेचन करके, नव-जीवन के निर्माण, विकास और उत्पादन की कला में भी यह चतुर है।

२—माता भूमि की कोख खाली थी। मेघ ने जल-प्रसेचन द्वारा उसे परिपूर्ण कर दिया। अब संसार नया जीवन और नया भोग प्राप्त करेगा। यदि मेघ जल-वर्षा न करें और भूमि उन जलों को अपनी कुक्षी में धारण न करे, तब तो संसार में पशु, पक्षी, वनस्पति और मानव-जगत की जो अवस्था हो जायेगी उसका तो चिन्तन भी बड़ा भयानक है। कभी-कभी कहीं-कहीं सूखा पड़ने से जो स्थिति उत्पन्न हो जाती है, भगवान् उस से सभी की रक्षा करे। अनावृष्टि न हो। अतिवृष्टि भी न हो।

३—सामाजिक-जीवन का दृश्य है। राग और द्वेष की ज्वालायें भभक रही हैं। भाई का भाई वैरी है। सद्भाव, सौम्यता, स्निग्धता, सत्यता, सात्विकता, सहृदयता आदि सद्गुणों का नाम तो कहीं-कहीं है, परन्तु काम कहीं नहीं। रूढ़ियों, कुरीतियों, दुष्टप्रवृत्तियों और नाना प्रकार की दुष्टताओं ने मानवता को लोह-पाशों में जकड़ रखा है। लोग सत्य को सत्य कहने में भी डरते हैं। सज्जन पुरुष बहुत संकट में हैं। अब कौन मानवता की रक्षा करेगा? कौन उत्तम आदर्शों, सिद्धान्तों, सज्जनों, गृह-देवियों और स्वदेश की सीमाओं की रक्षा करेगा? अब कौन इन दुष्टों और विभीषिकाओं का अन्त करेगा मानवता चिन्तित है।

४—घन-गरजन के समान ही वाणी-संचालन करता हुआ दुष्टों के बल और माया-जाल को तोड़ता हुआ, एक सुन्दर, स्वस्थ, निर्मल, कर्मयोगी ब्रह्मचारी आकर संसार के रंग-मंच पर उपस्थित हो गया। क्रान्ति के चिरजीवी जय-जयकारों से धरती-आकाश गूँज उठे। समाज-सुधार होने लगा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का संग्राम छिड़ गया। संसार में मुद-मँगल की स्थापना और मानवता के संरक्षण के आयोजन होने लगे। ब्रह्मचारियों के नेतृत्व में ही बड़े-बड़े आयोजन सफल होते हैं। देशों और जातियों की बिगड़ी दशा को ब्रह्मचारी ही सुधारते हैं।

५—गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार पूर्ण सुशिक्षित, सुन्दर, सुडोल, नीरोग, परिपक्वावस्था और पूर्ण विकसित अंगों वाले नवयौवन-सम्पन्न ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियों का ही है। अशिक्षित, कुशिक्षित, दुर्बल, रोगी

और नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में फसे हुए युवक और युवतियां तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के अधिकारी ही नहीं हैं। जो लोग गृहस्थाश्रम को खाने, पीने, मौज-मजे और बच्चे पैदा करने का आश्रम समझते हैं, वे भारी भ्रान्ति में फंसे हुए हैं। अपनी भूल को वे शीघ्र ही सुधार लें।

६—शरीर में मेरू-दण्ड का जो स्थान है, वही स्थान आश्रमों में गृहस्थाश्रम का है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रमों का प्रतिपालन गृहस्थाश्रमी-जन ही तो करते हैं। कला-कौशल, व्यापार-व्यवसाय, राज-काज आदि का मुख्य-भार भी गृहस्थाश्रमी जन ही उठाते हैं।

७—कोई गृहस्थाश्रम की मर्यादा को भंग या दूषित न करे। ससुराल के भरोसे, या बाप के भरोसे पर कोई युवक या युवती गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करें। हाँ, अपने भरोसे पर आगे बढ़े। किसी पर भरोसा रखना ही है, तो अपने पुरुषार्थ पर, प्रभु के अटल-न्याय पर, भरोसा रखें। आगे बढ़ने से पूर्व बारम्-बार सोच लें।

८—गृहस्थाश्रम सन्तानोत्पत्ति, नस्ल-सुधार, प्रेम-प्रसार और उत्तम आदर्शों के अनुष्ठान तथा संरक्षण का आश्रम है। सन्तानोत्पत्ति का व्यवहार ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में बाधक नहीं है। निषेध कामुकता और विषय-वासनाओं के वशीभूत होकर, वीर्य-नाश करने का है। विधिपूर्वक, ब्रह्मचारी पति का, ब्रह्मचारिणी पत्नी को वीर्य-दान देना, और सन्तानोत्पत्ति करना तो एक पवित्र यज्ञ ही है।

९—सन्तानोत्पत्ति के द्वारा ही मनुष्य पितृ-ऋण से मुक्त होता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा ही संसार का शकट आगे बढ़ता है। सन्तान ही माता, पिता और गुरुजनों के उत्तम व्रतों तथा अधूरे कार्यों को पूर्ण करती है। आज के बालक ही कल के माता, पिता, आचार्य और प्रशासक होंगे। वैदिक-धर्म सच्चा मानव-धर्म है। वेदविवाह की संस्था एवं सन्तानोत्पादन का प्रतिपादन बहुत सुन्दर और वैज्ञानिक रूप में करता है। वीर्य-रक्षा उत्तम कर्म है। सन्तानोत्पत्ति भी उत्तम कर्म है। सन्तानोत्पत्ति वीर्य-रक्षा का विनाशक कर्म नहीं है। कोई यह मिथ्या-प्रचार न करे कि सन्तानोत्पत्ति ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में बाधक है।

१०—युवकों और युवतियों में एक-दूसरे के प्रति जो सहज अनुराग और आकर्षण का भाव पाया जाता है, और जो प्रतिपक्षी-लिंग का आकर्षण (सैक्स का आकर्षण) कहलाता है, उसका विरोध न वेद करता है, न धर्म। विवाह-संस्था को तो वेद ने अत्यन्त परिमार्जित रूप में संसार के सामने प्रस्तुत किया है। विवाह का मुख्य-उद्देश्य चरित्र-निर्माण और संसार का कल्याण है, न कि पाशविकता और वासना-जाल की वृद्धि।

११—बड़े अभागे हैं, वे कामोन्मादग्रस्त युवक और युवती-जन, जो कि विवाह के पश्चात् अपनी-अपनी शक्तियों को कामुकता की भेंट चढ़ा देते हैं। और स्वय नाना प्रकार के कष्टों को भोगने के साथ ही साथ संसार में रोगों और नाना प्रकार के सन्तापों की वृद्धि का कारण बनते हैं। सब प्रकार के व्यभिचारवाद से तो सभी को बचना चाहिये।

१२—पर-कीया अथवा पर-पुरुष के जाल में तो कोई कभी भूल कर भी न फसे। कहा है—

पर नारी पैनी छुरी, कोई न लावे अंग।
रावण के दस सिर गये, पर नारी के संग॥

१३—स्वकीया के प्रति अधिक आसक्ति भी बुरी है—

नारी की छाया पड़े, अन्धा होय भुजंग।
कविरा तिन की कौन गत, नित नारी के संग॥

१४—नारी नर के बिना अपूर्ण है। नर भी नारी के बिना अधूरा है। विवाह दो प्रेमी-हृदयों को मिलाने वाला पवित्र संविधान वा संस्थान है। यही विवाह का विवाहपन है। दोनों मिलकर रहें। मिलकर चलें। मिलकर एक-दूसरे के सहयोग से अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें।

१५—नारी और नर के मन में अपने-अपने कर्तव्यों और अधिकारों के विषय में कभी-कभी कुछ भ्रान्तियाँ भी पैदा हो जाती हैं। यहां पहली बात तो यह है कि कर्तव्य-पालन का स्थान पहला है, और अधिकार-प्राप्ति का दूसरा। अर्थात् अधिकार-प्राप्ति का महत्व गौण है। नर और नारी के शारीरिक-विकास एवं बौद्धिक-विकास में, दोनों की स्वाभाविक वृतियों में भी, कुछ भेद स्वाभाविक रूप में वर्तमान है। नर और

नारी के कर्तव्यों और अधिकारों का निर्धारण—वेद ने, ईश्वर ने और प्रकृति ने, बहुत पहले ही कर दिया है। उसका अज्ञान, या उसके प्रतिपालन में प्रमाद ही दाम्पत्य-जीवन की कटुता का मुख्य कारण होता है।

१६—गृहस्थाश्रम और दाम्पत्य-जीवन में पारस्परिक सहयोग के आधार पर नव-निर्माण, सन्तान का प्रतिपालन, घर के पशु-पक्षियों का संरक्षण, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास-आश्रम में स्थित जनों की सहायता तथा अपने शुद्ध आचार-विचार द्वारा संसार के सुख-समुदाय में वृद्धि, ये वे बड़े-बड़े काम हैं, जोकि गृहस्थाश्रम में सभी नर-नारियों के कर्तव्य हैं। इनकी पूर्ति की आशा सुशिक्षित, उत्तरदायी, स्व-शासित, संयमी, नीरोग और स्वावलम्बी ब्रह्मचारी युवकों और ब्रह्मचारिणी नव-युवतियों से ही की जा सकती है।

१७—वेदों में अन्यत्र गृहस्थाश्रम का ही चित्रण स्वर्ग के रूप में किया गया है। जिस परिवार में सहयोग, सद्भाव नीरोगता, सम्पन्नता, सुशिक्षा और स्वच्छता है, वही स्वर्ग है। जिसमें इन उत्तमताओं का अभाव है, वह परिवार ही नरक है। एक कवि ने इसी भाव को बहुत उत्तम शब्दों में चित्रित किया है—

अन्न पुराना, घी नया, घर सतवन्ती नार।
चौथे पीठ तुरंग की, स्वर्ग निशानी चार॥

१८—यह दोहा तब का है, जब तुरंग अर्थात् घोड़े की सवारी का बहुत महत्व था। स्त्रियों की कामना तथा वर्तमान स्थिति का विचार करके इस दोहे को थोड़ा बदला जा सकता है—

अन्न पुराना, घी नया हो सज्जन भर्तार।
घर में मोटर कार हो, स्वर्ग निशानी चार॥

१९—नरक का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

तन पर मैले कापड़े, सिर पर मैले बार।
देना हो कर्जा घना, घर कलिहारी नार॥
बुद्ध जन ऐसा कह गये, खुब विचार-विचार।
नरक निशानी चार हैं, सुनो सभी नर-नार॥

यहाँ भी स्त्रियों के मनोभावों का विचार करके कह सकते हैं—

देना हो कर्जा घना, दुष्ट मिले भर्तार ।

२०—परिवार एक ऐसा उत्तम और आवश्यक 'घटक' है, जो व्यक्ति को समाज के साथ सम्बन्धित करता है और व्यक्ति को सामाजिक जीवन के लाभों से लाभान्वित करता है। पारिवारिक-जीवन का आदर्श बहुत ऊँचा है। पुरुषार्थ, सदाचार, सत्यता और शिक्षा एवं आस्तिकता आदि सद्गुणों के द्वारा प्रत्येक घर और प्रत्येक परिवार को स्वर्ग-धाम के रूप में परिवर्तित करना ब्रह्मचारियों का ही काम है। ब्रह्मचारियों के बिना तो स्वर्ग-धाम भी नरक-धाम बन जायेंगे।

---

१३ सुरुचि-सम्पादन

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्
ब्रह्मचार्यऽप्सु समिधमादधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति
तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥

अथर्व० ११ । ५ । १३

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अग्नौ) अग्नि में (सूर्ये) सूर्य में (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (मातरिश्वन्) वायु में (अप्सु) जलो में (समिधम्) समिधाभाव को, यज्ञ-भाव को (आ दधाति) धारण करता है, आरोपित करता है। अर्थात् ब्रह्मचारी अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और जल सम्बन्धी अपने सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का उपयोग शुभ कर्मों में ही करता है। (तासाम्) इन अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और जल की ही (अर्चींषि) कुछ विशेष किरणें, शक्तियाँ (अभ्रे

चरन्ति) मेघों में आकाश में, विचरती हैं। (तासाम्) उनसे ही (आज्यम्) अन्न, घृत आदि पौष्टिक अन्न (पुरुषः) मानव-सन्तति (वर्षम्) वर्षा और (आप.) जल की, कर्म-प्रवाह की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी अपने भौतिक-विज्ञान तथा भूगोल, खगोल आदि के सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग अखिल विश्व के हित के लिये, यज्ञ के रूप में ही करता है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और जल की शक्तियाँ दूर-दूर तक फैली हुई हैं। दूरवर्त्ती मेघ-मालाओं में भी वे शुभ शक्तियाँ ओत-प्रोत हैं और वहाँ भी वे अपना काम कर रही हैं। ब्रह्मचारी इन सब तत्वों, रहस्यों और उन-उन की क्रियाओं को भली प्रकार जानता है। जब ब्रह्मचारी अपने उत्तम ज्ञान के आधार पर यज्ञ-संस्था का पोषण और विस्तार करता है, तभी संसार में घी, दूध, धन-धान्य और उत्तम पुरुषों की वृद्धि होती है। तभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी और दैवी-प्रकोप भी दूर होते हैं।

प्रवचन

१—आचार्य ब्रह्मचारी के शारीरिक और बौद्धिक विकास में सहयोग देता है। सब प्रकार के आवश्यक ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की शिक्षा देता है। और भी बहुत प्रकार से ब्रह्मचारियों का हित-साधन करता है। जो कार्य प्रत्येक आचार्य को अवश्य ही करना चाहिये, वह है—ब्रह्मचारी के स्वभाव में सुरुचि का सम्पादन। सुरुचि ही तो वह श्रेष्ठ तत्त्व है, जो कि मानवता का आभूषण है। इस आभूषण के अभाव में तो मनुष्य मानवता से ही पतित हो जाता है।

२—सुरुचि-सम्पादन का कार्य आचार-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान, दर्शन और मनोविज्ञान-शास्त्र की सहायता से सम्पन्न होता है। व्याकरण-शास्त्र की सहायता से भाषागत दोषों का परिमार्जन होता है। दर्शन-शास्त्र की सहायता से बौद्धिक परिष्कार किया जाता है। आचार्य का ज्ञान और अनुभव जितना ही अधिक उन्नत और परिपक्व होगा, वह उतना ही अधिक अपने शिष्य-वर्ग को भी सुरुचि-सम्पन्न बना सकेगा। सुरुचि-सम्पादन का यह कार्य माता-पिता को बालक की बाल्यावस्था में ही घर पर आरम्भ कर देना चाहिये। फिर आचार्य-कुल में आचार्य सुरुचि सम्पादन करे। यदि वह किसी ब्रह्मचारी

में कभी किसी प्रकार की कुरुचि देखे, तो सहानुभूति पूर्ण युक्ति से उसे दूर कर दे। दोष-निवारण में सहानु भूति का होरा आवश्यक है।

३—आधुनिक शिक्षा-शालाओं में सुरुचि-सम्पादन पर प्रथम तो कुछ ध्यान ही नहीं दिया जाता, और यदि कहीं कुछ ध्यान दिया भी जाता है, तो उसका ठीक परिणाम नहीं निकलता। इसका क्या कारण है? कारण अनेक हैं। माता-पिता का कुरुचि-ग्रस्त होना, अध्यापकों, सहपाठियों, सहवासियों आदि का भी कुरुचि-ग्रस्त होना, सुरुचि-संवर्धक उपदेशों उपदेशकों, उपायों और साधनों का भी कुरुचिपूर्ण होना। फिर भला उलटा परिणाम क्यों न हों?

सफाइयां हो रही हैं जितनी,
दिल उतने ही हो रहे हैं मैले।
अन्धेरा छा जायेगा जहाँ में,
अगर यही रोशनी रहेगी॥

४—उपासना का परित्याग, दुश्चिन्तन, अमित-व्यय, मैले वस्त्र, व्यायाम का परित्याग, कटु-भाषण, अकारण रात्रि-जागरण, अकारण-दिवास्वप्न, तामस और राजस-भोजन, अश्लील ग्रन्थों का पठन-पाठन, अश्लील चित्रों का अवलोकन, पुरुषार्थ का परित्याग, गन्दे स्थान और गन्दे वातावरण में निवास, बड़ों का निरादर, आदरणीय पुरुषों का निरादर, शक्ति, समय, साधनों और पद-मर्यादा का दुरुपयोग, ये और ऐसे ही और भी अनेक कार्य हैं, जिनसे कुरुचि की सूचना मिलती है।

५—सभी सुरुचि-सम्पादकों को उचित है कि वे जब भी किसी को कुरुचि-ग्रस्त देखें, तो उस पर कोप न करें, उससे घृणा न करें, मन पर चोट करने वाले, सहानुभूति-शून्य शब्दों में उसे कुछ भी न कहें। अपितु उसके पास जाकर, अथवा उसे अपने पास बुलाकर, अप्रत्यक्ष रूप में सुविचारित रीति से, मधुर वार्तालाप से एवं अपने क्रियात्मक उदाहरण से उसकी कुरुचि वा त्रुटि को दूर करें। लठमारी बात तो कभी करनी ही न चाहिये।

६—एक श्रेष्ठ धर्म-प्रचारक क्या करता है? स्वभाव का परिवर्तन किसे कहते हैं? मत-परिवर्तन अथवा धर्म-परिवर्तन का क्या अर्थ है? सुनो—

सुरुचि-निर्माण, सुरुचि-सम्पादन, सुरुचि-सवर्धन। बस, और कुछ नहीं। रुचि, स्वभाव, आदत, जहनीयत और अंग्रेजी-भाषा का शब्द मैन्टैलिटी, इन सभी शब्दों का अर्थ लगभग एक-सा ही है। सुरुचि का अभिप्राय श्रेष्ठ स्वभाव, अच्छी जहनीयत और गुड-मैन्टैलिटी ही है। यही वह तत्त्व है, जिसे दूसरे शब्दों में मानवता कहा जाता है। इसे प्राप्त करने के लिये ही बालक को आचार्य की सेवा में समर्पित किया जाता है।

७—ब्रह्मचारी की सुरुचि का विशेष परिचय तब मिलता है, जब वह स्नातक बनकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर चुकता है। सुरुचि-सम्पन्न, सुसभ्य लोगों अर्थात् ब्रह्मचारियों का अपना एक विशेष दृष्टि-कोण होता है। उसके द्वारा वे प्रत्येक कार्य और परिस्थिति पर अपनी अर्थात् अपने व्यक्तित्व की छाप अङ्कित कर देते हैं।

८—ब्रह्मचारी अग्नि-तत्व और अग्नि-विद्या का दुरुपयोग नहीं करते, सूर्य और सूर्य—विज्ञान, चन्द्र और चन्द्र-विज्ञान का दुरुपयोग नहीं करते, वायु और वायु-विज्ञान का, एवमेव जल और जल-विज्ञान का भी दुरुपयोग नहीं करते। वे सब पदार्थों, सब कलाओं, और सब विधियों में यज्ञ-भाव को आरोपित करते हैं। अपने सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान एवं साधनों का उपयोग वे यज्ञ-भाव की सिद्धि के लिये अर्थात् शुभ कर्मों और शुभ परिणामों की वृद्धि के लिये ही करते हैं।

९—सुरुचि-सम्पादन का यह कार्य सभी प्रकार के विवादों से रहित है। इसमें सब कार्यों की साक्षी और प्रेरणा मनुष्य को अपने अन्तरात्मा से ही प्राप्त होती रहती है और वह प्रायः सर्वथा ठीक ही होती है। मनुष्य को अपने अन्तरात्मा की आवाज को सुनने और उसके अनुसार चलने का अभ्यास करना चाहिये। अपने अन्तरात्मा की प्रेरणा के विपरीत आचरण करना किसी के लिये भी उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करने से तो मनुष्य स्वयं अपनी दृष्टि में भी पतित हो जाता है।

१०—अपनी प्रशंसा अपने आप करने, अपने मुँह मियाँमिट्ठू बनने, और आत्म-विज्ञापन करने से कोई लाभ नहीं। सुगन्धी तो वही उत्तम है, जो वास्तव में सुगन्ध-पूर्ण है, न कि वह जिसे अत्तार सुगन्धी कहता है। इसी

प्रकार सुरुचि भी वही उत्तम है, जिसके देखने-सुनने पर दर्शक और श्रोता उसे सुरुचि समझें। और जो अपने आप ही सर्वप्रिय होती चले। जब ब्रह्मचारी अपने कार्यों द्वारा अपनी सुरुचि का प्रकाश करते हैं, तब उनकी कीर्ति तथा प्रसिद्धि अनायास ही सर्वत्र फैल जाती है और फैलकर, वह उनके लिये सर्वत्र ही अनुकूलताओं का निर्माण करती है।

११—जब जनता ब्रह्मचर्य के व्रतों और यज्ञों का विधिपूर्वक पालन करने वाली होती है तभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि और महामारियों आदि के प्रकोप दूर होते हैं, तभी जल-वायु की शुद्धि होती है, तभी उत्तम सन्तान की प्राप्ति और उत्तम समाज की व्यवस्था भी सम्भव होती है। इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य-पालन, सुरुचि-सम्पादन, धर्मानुष्ठान और यज्ञ-संस्थान आदि ये सब शब्द एक ही मूलभाव के सूचक हैं। और इन सबके परिणाम भी एक से ही होते हैं।

१२—सुरुचि से सुरुचि फैलती है। कुरुचि से संसार में कुरुचि की वृद्धि होती है। कुरुचि से बचना चाहिये और सदा सुरुचि की ही वृद्धि करनी चाहिये। यज्ञ-कुण्ड में जब उत्तम सामग्री की आहुति दी जाती है, तब उत्तम परिणाम होते हैं। जब सामग्री उत्तम नहीं होती, तब परिणाम भी उत्तम नहीं होते। और यदि सामग्री बुरी होगी, तब तो परिणाम भी बुरे ही होगे। मानव-जीवन का प्रत्येक शुभ कार्य, प्रत्येक शुभ मोड़ और प्रत्येक शुभ विधि-विधान यज्ञस्वरूप ही है। सुरुचि और श्रेष्ठ सामग्री के उपयोग के द्वारा हमें यज्ञ के उत्तम लाभों को प्राप्त करना चाहिये।

१३—ईश्वर ब्रह्म तो है ही, वह ब्रह्मचारी भी है। उसी ने यह विश्व-यज्ञ रचा है। मेघ-मालायें, नाना प्रकार के अग्नि, सूर्य, चाँद और तारागण, जल और वायु आदि नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थ इस विश्व-यज्ञ में आहुति स्वरूप हैं। इस यज्ञ का, यज्ञ-सामग्री का, और इसके परिणामों का विचार कीजिये। मानव-देह में वाणी, चक्षु, मन, प्राण, वीर्य आदि का स्थान वही है, जो ब्रह्माण्ड में अग्नि, सूर्य, चाँद, वायु और जल आदि का है। अपनी सम्पूर्ण शक्तियों और अपने सम्पूर्ण रचना-कौशल द्वारा इस विश्व-यज्ञ से लाभ प्राप्त करना, इसकी अमोघता, पवित्रता, अखण्डता को सुरक्षित रखना यह भी ब्रह्म-

चारियों का ही कर्तव्य है। इसी कर्तव्य की पूर्ति के लिये सुरुचि पूर्वक देव-यज्ञ किया जाता है।

१४—सुरुचि-सम्पादन का कार्य-क्रम मानव-जीवन में आरम्भ से अन्त तक अखण्डरूप में चलता रहता है। दैनिक-जीवन में यह कार्य पाँच दैनिक महायज्ञों के रूप में सम्पन्न होता है। ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ और भूत-यज्ञ ये परिष्कार की पांच विधियाँ ही तो हैं। यदि मनुष्य इनका अनुष्ठान नहीं करता, तो उसके आत्मिक, शारीरिक पारिवारिक और सामाजिक-जीवन में बहुत-सा कूड़ा-करकट एकत्रित हो जाता है।

१५—सोलह-संस्कारों के रूप में सुरुचि-सम्पादन का कार्य-क्रम प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आजीवन चलता रहता है। संस्कार का अभिप्राय तो सुधार वा संशोधन स्पष्ट ही है। सोलह संस्कारों को सामाजिक रूढ़ियों के रूप में बदलने से बचाना चाहिये। इनका उपयोग तो कौशलपूर्वक मनुष्य की मनोवृत्ति में सुधार, सात्विकता के संचार और उसको दिव्य बनाने के लिये ही होना चाहिये।

१६—खान, पान, पहिरान, बोल-चाल और लोक-व्यवहार में सुरुचि का संचार होने पर सचमुच ही अत्यन्त रोमांचक दिव्य-दृश्य प्रस्तुत हो जाते हैं। पवित्रता, सुन्दरता और स्निग्धता के दिव्यभाव वस्तु-वस्तु से और व्यक्ति-व्यक्ति से प्रस्फुटित होकर वातावरण को अत्यन्त मधुर बना देते हैं। सुरुचि-सम्पन्न मनुष्य साधारणता में भी सौन्दर्य और विशेषता का संचार कर देते हैं। बुराई में से भी भलाई खोज लेते हैं। अभावों में भी सुखी रहते हैं और भारी उत्तेजना के अवसरों पर भी वे अपने सन्तुलन को बिगड़ने नहीं देते।

१७—विषमताओं में भी शालीनता का व्यवहार करना निसन्देह एक कठिन-कार्य है। ऐसा सुरुचि-सम्पादन के अनन्तर ही सम्भव है। भौतिक ऐश्वर्य और भौतिक साधन एवं इन्द्रियाँ आदि उपकरण तो सभी मनुष्यों के एक से ही होते हैं; परन्तु सुरुचि-सम्पन्नता और कुरुचि-ग्रस्तता के कारण उन के परिणाम सर्वथा भिन्न प्रकार के देखने में आते हैं। यदि मनुष्य की मनोवृत्ति सुधर जाये, तो उसकी शक्ति में वृद्धि हो जाती है और उसके बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं। यह मनोवृत्ति-सुधार ही दूसरे शब्दों में सुरुचि-सम्पादन कहलाता है।

*

१४ आचार्य का विराट् रूप—१

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानः तैरिदं स्वराभृतम् ।।

अथर्व० ११ । ५ । १४

शब्दार्थ—(मृत्युः) मृत्यु, (वरुणः) वरुण, (सोमः) सोम, (ओषधयः) ओषधियाँ, (पयः) दूध (सत्वानः) सत्व=सार-सम्पन्न सर्व-श्रेष्ठ पदार्थ, सात्विक भाव और पदार्थ (जीमूताः) और जीवन-वर्षक-मेघ ये सब के सब (आचार्य) आचार्य हैं, शिक्षा देने वाले हैं, आचार्य के समान हैं, और आचार्य इन सब के समान है। (आसन्) पहिले भी ये ऐसे ही थे। ऐसे ही ये आज भी हैं। भविष्य में भी ये ऐसे ही होंगे। आचार्य ने (तैः) अपने इन विविध प्रकार के रूपों के द्वारा ही (इदम्) इस (स्वः) सुख, आनन्द, प्रकाश, ज्ञान, नियमबद्ध-जीवन और सौन्दर्य को (आभृतम्) धारण कर रखा है, प्रदान किया है, रचा है, संरक्षित रखा और प्रचारित किया है।

भावार्थः—आचार्य मृत्यु के समान आत्मा की ज्योति को चमकाने वाला, वरुण के समान न्यायकारी तथा प्राप्त करने और वर्णन करने के योग्य, सोम के समान शुभ गुणों से युक्त एवं आनन्द संवर्धक, ओषधियों के समान सब रोगों और कष्टों का निवारक, (पयः) दुध के समान पोषक और उज्ज्वल, सारवान् पदार्थों के समान सम्पूर्ण आवश्यक तथा उत्तम गुणों से युक्त, सात्विकता का मूर्त्त रूप, मेघों के समान आनन्द की वर्षा करने और अपने उपदेशों से जनता का उद्धार करने में समर्थ तथा—सब उत्तम विधायक और निर्माणात्मक शक्तियों का प्रेरक एवं प्रयोक्ता होता है। संसार में ये जो नाना प्रकार के आनन्द, आनन्द वर्धक विचार, सूत्र और ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता तथा सुधार के विभिन्न प्रकार के रूप और आयोजन दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, इन सब की प्रवर्त्तना महान आचार्यों ने ही की है।

प्रवचन

१—आचार्य मृत्यु है, सोम है, औषधि है, दूध है, जल है, मेघ है, सार-सम्पन्न है। सात्विक भावापन्न है। संसार में जो कुछ भी सुख, आनन्द, ज्ञान-विज्ञान, शुभ-कर्म, सुधार संस्कार आदि-आदि दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, उन सब का प्रवर्त्तक आचार्य ही है।

२—आचार्य तो आचार्य हैं ही, मृत्य, वरुण, सोम, औषधि, दूध, जल, मेघ और सार-सम्पन्न एवं सात्विक भावापन्न सभी पदार्थ आचार, विचार तथा अधिकार भी आचार्य ही हैं। संसार में जो सुख और आनन्दमय जीवन, ज्ञान-विज्ञान, शुभ-कर्म आदि-आदि दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे सब इन आचार्यों की कृपा और उनके पुरुषार्थ के फल-स्वरूप ही है।

३—जो वेदादि सब विद्याओं, सब कलाओं और सब लोक-व्यवहारों का उत्तम ज्ञाता, जितेन्द्रिय. विद्वान्. बलवान्, परोपकारी बालकों को प्रेमपूर्वक शिक्षा देकर, उनको श्रेष्ठ नागरिक. उत्तम विद्वान् और सदाचारी बनाने वाला पुरुष होता है, उसको आचार्य कहते हैं। आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा इत्याचार्यः।*

---

*आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द, अर्थ सम्बन्धी और क्रिया का जाननेहारा, छल कपट रहित, अति प्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर महाशय पक्षपात किसी का न करे सत्योपदेश, सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।

—महर्षि दयानन्द

[संस्कार-विधि, उपनयन संस्कार प्रकरण से उद्धृत।]

'सत्यार्थ प्रकाश'' के प्रथम समुल्लास में महर्षि दयानन्द लिखते हैं :—

''य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या वा बोधयति स आचार्य ईश्वरः।''

जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम आचार्य है।

४—आचार्य का उल्लेख और विचार पहिले प्रसंगों में भी पर्याप्त हो चुका है ; तथापि उन-उन प्रसंगों में ब्रह्मचारी की ही प्रधानता थी। प्रस्तुत-प्रसंग में विशेष रूप से केवल आचार्य का ही प्रतिपादन है। जो आचार्य-ब्रह्मचर्य जैसे धर्मतत्त्व का प्रधान प्रवर्त्तक है। और जो ब्रह्मचारियों जैसी महान विभूतियों का निर्माता तथा प्रस्तोता है, उसके स्वरूप को स्वतन्त्र रूप से न दर्शाया जाये, और केवल प्रसंगोपात-उल्लेख करके ही बस कर दिया जाये, यह तो ठीक नहीं। यदि यहां आचार्य का महत्व और स्वरूप स्वतन्त्र रूप में न दर्शाया जाता, तो यह एक दोष होता।

५—आचार्य को मृत्यु भी कहते हैं। मृत्यु को भी आचार्य कहते हैं। आचार्य शिष्य के अहंकार का अन्तक होता है। बाल-जीवन का अन्त करके वह उसे अपने गर्भ मे अर्थात् अधिकार-क्षेत्र में धारण करता है, उसे ज्ञान, कर्म और उपासना स्वरूप कर्मों में दक्ष बनाता है। आचार्य ही द्विजत्व की उत्पत्ति शिष्य के जीवन में करता है।

६—आचार्य सब नियमों का व्यवहार स्वयं भी कठोरता से करता है और शिष्य-वर्गों को भी कठोरता पूवक नियमों के अनुसार चलता है। इसलिये आचार्य को मृत्यु और मृत्यु को आचार्य कहा जाता है। मृत्यु भी तो एक बहुत बड़ा शिक्षक है। जो जन मृत्यु का स्मरण करते रहते हैं, वे पाप-पक में नहीं फसते। और जो मृत्यु को भूल जाते हैं, वे तो पाप-पंक में भी फंस ही जाते हैं। तभी तो कहा है—

दो बातें भूले नहीं, जो चाहे कल्याण।
नारायण इक मौत को, दूजे श्री भगवान् ॥

७—मौत से मनुष्य भी डरते हैं. पशु-पक्षी भी। परन्तु मनुष्य का मौत से डरना एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है। मौत की घटना तो प्रत्येक जीवन में घटित होती है। यह घटना अनिवार्य भी है, अवश्यम्भावी भी। फिर डरना कैसा ? इसके साथ ही मौत की घटना ऐसी ही है, जैसे मनुष्य का कपड़े बदलना। जब जीवात्मा एक शरीर का परित्याग करके, अपने कर्मों और प्रभु की व्यवस्था के अनुसार नया शरीर धारण करने लगता है, तभी मृत्यु की घटना घटित होती है।

८—जीवात्मा तो अमर और अविनाशी है। फिर मरना किसका ? और डरना क्यों ? मौत का डर वास्तव में भ्रान्त-ज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। तत्त्वदर्शी आचार्य गंगाप्रसाद उपध्याय ने इस भ्रान्त-ज्ञान पर कैसा सुन्दर व्यंग कसा है ? देखिये—

जो जल नहीं सकता, उसे जल जाने का डर है।
जो गल नहीं सकता, उसे गल जाने का डर हैं॥
दुनियाये-तहैयुर में* हैरत के सिवा क्या है ?
जो मर नहीं सकता, उसे मर जाने का डर है॥

९—आचार्य को वरुण भी कहते हैं और वरुण को आचार्य भी कहते हैं। वरुण शब्द का मुख्य अर्थ तो ईश्वर ही है। वेद ने राजा, न्यायाधीश और आचार्य का वर्णन भी वरुण के रूप में किया है। आचार्य को वरुण क्यों कहते हैं ? इसलिये कि जो प्राप्त करने योग्य, चुनने योग्य और प्रशंसा करने योग्य होता है, उसको वरुण कहते हैं। आचार्य भी प्राप्त करने योग्य है, बहुतों में से, बहुतों के द्वारा, चुनने के योग्य है, और अपने विद्यादि गुणों के कारण वह बहुत प्रशंसनीय अर्थात् वर्णनीय भी होता है, इसलिये आचार्य का एक नाम वरुण भी है।

१०—वरुण को आचार्य क्यों कहते हैं ? वेद में वरुण शब्द का व्यवहार अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से किया गया है। ईश्वर, राजा और आचार्य वरुण शब्द के प्रसिद्ध अर्थ हैं। ईश्वर तो प्राप्त करने और वर्णन करने योग्य है ही, राजा भी चुना जाता है, और प्रशंसनीय भी होता है। इसी प्रकार आचार्य का भी निर्वाचन, वन्दन एवं गुण-गान होता है। परमेश्वर सब सत्य विद्याओं का आदिमूल है, राजा सभ्यता, व्यवस्था और शिक्षा-संस्थान का संरक्षक है, आचार्य विद्या का संरक्षक, प्रचारक और मानवता के विकास का प्रधान अधिकारी है। अतः आचार्य का नाम वरुण है।

११—आचार्य को सोम भी कहते हैं, और सोम को आचार्य भी कहते हैं। आचार्य शील, स्वभाव में सोम्य होता है, आनन्दी और उत्साही होता है,

*दुनियाये तहैयुर में=आश्चर्यजनक संसार में।

सोम्यता का प्रचारक होता है। इसीलिये उसे सोम कहते हैं। चन्द्रमा का भी एक प्रसिद्ध नाम सोम है। संसार में चन्द्रमा तो आह्लादक, सुधावर्षक, शीतल, सुखद और सुन्दर प्रसिद्ध ही है। अतः आचार्य को सोम और सोम को आचार्य कहा जाता है। सोम-स्वरूप ईश्वर तो आचार्यों का भी आचार्य होता ही है। साथ ही प्रत्येक आचार्य सच्चा आस्तिक अर्थात् ओम-सहित होता है। "ओम्-सहित" यह भी "सोम" पद का एक अर्थ है।

१२—आचार्य को ओषधि और औषधि को आचार्य भी कहते हैं। अज्ञान रोग की महोषधि आचार्य ही तो है। यदि कोई कहे कि अज्ञान की ओषधि ज्ञान है, तो ठीक नहीं। ज्ञान तो उत्तम मानसिक-स्वास्थ्य का एक लक्षण मात्र ही है। ओषधियों और उनके रासायनिक परिणामों से बहुत से बोध प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण भौतिक विज्ञान ओषधियों के चमत्कारों का साक्षी है। उद्बोधक, प्रेरणा-प्रद और दुर्गुणों व दोषों का निवारक होने से ओषधि को आचार्य और आचार्य को ओषधि कहा जाता है।

१३—आचार्य को दूध अथवा जल भी कहते हैं। इसी प्रकार दूध और जल को भी आचार्य कहते हैं। आचार्य दूध के समान ही शक्तिवर्धक, आनन्ददायक, सरस, कीर्तिधवल, परोपकारी और जल के समान ही स्निग्ध तथा शीतल होता है।

१४—आचार्य को मेघ और मेघ को भी आचार्य कहते हैं। जलों को ऊपर उठाने से मेघ उर्ध्वरेता कहलाते हैं। वर्षा द्वारा भूमि पर जलों का प्रसेचन करने से मेघों को अमोघ-वीर्य कहते हैं। कृषि आदि में जो मेघों और वर्षा कर्म की उपयोगिता है, उससे सभी सुपरिचित है। मेघ-वर्षा से ही अन्न और धन की वृद्धि एवं उत्पत्ति होती है। मेघों के समान ही आचार्य भी गरज-गरजकर उपदेशामृत की गंगा बहा देते हैं, उनके उपदेशों और शुभ दर्शनों से जिज्ञासु जनों में अपार उत्साह और नया आशावाद जाग उठता है। गम्भीरता और परोपकार के कारण भी मेघ को आचार्य और आचार्य को मेघ कथन किया जाता है।

१५—आचार्य को सार-सम्पन्न और सात्विक भावापन्न भी कहते हैं। संसार में जो व्यक्ति और पदार्थ सार-सम्पन्न एवं सात्विक हैं, वे भी आचार्य

कोटि में आते हैं। 'सार' ही तो आचार्य का सर्वस्व है। निःसार होने से तो कोई भी व्यक्ति, पदार्थ वा विचार तुच्छता की श्रेणी में चला जाता है। यहाँ सत्व शब्द सार, जीवन, विवेक, सूझ-बूझ, मौलिकता, व्यक्तित्व, पराक्रम, औचित्य, सन्तुलन और समन्वय आदि का सूचक है। इसका विशेष मनन कर्त्तव्य है।

१६—आचार्य का यहाँ जो व्याख्यान किया गया है, यह भूतकाल में भी सत्य था, वर्तमान में भी सत्य है, और भविष्य में भी सत्य होगा। सब देशों और सब कालों में आचार्य का स्वरूप, अर्थात् उसके गुण, कर्म और स्वभाव ऐसे, ही होते हैं जैसे कि वेद के आधार पर यहाँ दर्शाये गये हैं।

१७—सुख की प्राप्ति मानव ही नहीं, प्राणि-मात्र की स्वाभाविक आकांक्षा है। प्रकाशोपासना अर्थात् विद्या तथा सात्विकता की वृद्धि मानवता का चरम लक्ष्य है। सम्पूर्ण श्रेष्ठ आकाक्षाओं की पूर्ति और सम्पूर्ण श्रेष्ठ आदर्शों की प्राप्ति आचार्य को प्रेरणा, सहायता तथा कृपा से ही होती है। मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि. पय, जीमूत और सत्व इन सभी शब्दों से ईश्वर अर्थ का ग्रहण भी सहज में ही होता है, जैसा कि पहिले भी लिखा है। ईश्वर तो आचार्यों का भी आचार्य है। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। अनादि और अनन्त ज्ञान का प्रवर्तक होने से ईश्वर तो गुरुओं का भी गुरु है। यह महर्षि पतंजलि का वचन है।

१५ आचार्य का विराट् रूप–२

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो
भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्
स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥

अथर्व० ११ । ५ । १५

शब्दार्थ—(आचार्यः) आचार्य (अमा) अपने घर में, अपने संसर्ग में, सब शिष्यों को (केवलम्) केवल, एकमात्र (घृतम्) सरल, प्रकाश से युक्त, जीवन शक्ति से युक्त, श्रेष्ठ ही (कृणुते) बनाता है। आचार्य अपने घर में केवल घृत ही तैयार करता है, छाछ नहीं। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (वरुण) श्रेष्ठ, प्रशंसनीय (भूत्वा) बन कर, सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़कर (प्रजापतौ) प्रजा, सन्तानोत्पादन करने के योग्य जब हो जाता है, तब, आचार्य (यत्-यत्-ऐच्छत्) जो-जो कुछ भी माँगता है, चाहता है, आदेश देता है, (तत्) उस-उस को वह (आत्मनः) अपने हितों, अपने स्वार्थों, अपनी शक्तियों से भी (अधि) बढ़ कर (प्रायच्छत्) पूर्ण करता है, देता है।

भावार्थ—आचार्य अपने शिष्यों को सर्वत्र उत्तम उपदेश ही देता है। सर्वथा अबोध और जड़ बुद्धिवाले बालकों को भी वह उत्तम विद्वान् और अनेकानेक विद्याओं में पारंगत, और सब व्यवहारों में चतुर बना देता है। आचार्य का उद्देश्य घृत बनाना है, छाछ बनाना नहीं। हां, घृत बनाने के अनुष्ठान में छाछ तो बिना बनाये भी बनती ही रहती है। जब शिष्य सुयोग्य बन कर, जीवन-संघर्ष में पदार्पण करने के लिये भली प्रकार समर्थ हो जाते हैं, तब आचार्य के प्रति उनका विश्वास, प्रेम और श्रद्धा-भाव भी बहुत बढ़ जाता है। उस समय आचार्य उन को जो कुछ भी आदेश वा उपदेश देता है, उसका वे प्रसन्नता पूर्वक पालन करते हैं। ऐसा करते हुए वे आश्चर्य जनक रूप में

अपने त्याग, तप और बलिदान का परिचय देते हैं। अपनी शक्ति से भी अधिक त्याग करके तथा कष्ट सहन करके वे आचार्य की आशाओं को पूर्ण करते हैं।

प्रवचन

१—माता-पिता सन्तान का लालन, पालन, शुभचिन्तन, हितसाधन और अनेकविध उपकार करते हैं। आचार्य भी अपने शिष्यों का लालन-पालन, शुभचिन्तन, हितसाधन और अनेकविध उपकार करता है। सन्तान का कर्त्तव्य है कि माता-पिता की सेवा करे। शिष्य का भी कर्त्तव्य है कि आचार्य की सेवा करे। आचार्य का स्थान और अधिकार यदि अधिक नहीं, तो सभी दृष्टियों से कम से कम उतना तो अवश्य ही है, जितना माता-पिता का स्थान और अधिकार है, इससे कम नहीं।

२—आचार्य अपने घर अर्थात् आचार्य-कुल में अपने शिष्यों को किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होने देता। वह स्वयं तो छाछ पर भी निर्वाह कर लेता है; परन्तु शिष्यों के लिये तो वह घी की ही व्यवस्था करता है। जो कुछ भी उत्तम, सारवान् और हितकर गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ होता है, वह उसे यत्नपूर्वक प्राप्त करता है और प्रेमपूर्वक शिष्य-वर्ग को सौंप देता है। उन रहन-सहन तथा भोजन-छादन आदि की वह उत्तम से उत्तम व्यवस्था करता है। शास्त्रों के स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार के आधार पर वह जो कुछ भी ज्ञान, सिद्धान्त, तत्व और रहस्य रूपी नवनीत प्राप्त करता है, वह सब, वह प्रसन्नता पूर्वक अपने शिष्यों को प्रदान करता रहता है। पदार्थ-विज्ञान और नाना प्रकार के अनुसंधान के आधार पर, जो-जो आविष्कार अथवा रहस्योद्घाटन करता है, वे सब भी शिष्यों को, जग-मंगल के लिये समर्पित करता रहता है।

३—राजा से और जनता से जो कुछ भी अन्न तथा धन आचार्य को सहायता के रूप में मिलता है, उसका अधिक, मुख्य और श्रेष्ठ भाग वह अपने शिष्यों के पोषण के लिये ही व्यय करता है। आचार्य-कुल, सच्चा आचार्य-कुल है, ठग-विद्या की दुकान अथवा छात्र-वर्ग के नाम पर माँगने खाने का

प्रपंच वह नहीं है। जो स्वार्थी, चटोरे, प्रमादी, कर्त्तव्य-भ्रष्ट, चन्दा-भोजी लोग होते हैं, वे न तो आचार्य होने के योग्य हैं, न ही आचार्य-कुल के कर्मचारी होने—के योग्य। सच्चे आचार्य अपनी हार्दिक प्ररणा से शिष्य-वर्ग का जो हित करते हैं, उसकी आशा किसी भाड़े के टट्टू से कभी भी नहीं की जा सकती। उत्तम आचार्य के अभाव में तो गुरु-कुल भी कुरु-कुल अर्थात् झगड़े-फिसाद के अखाड़े हो बन जाते हैं।

४—यदि आचार्य उचित समझे, तो अपनी सहायता के लिये जितने आवश्यक हों, उतने सहयोगी नियत कर ले। और प्रबन्ध कार्यों के लिये समितियाँ, उपसमितियां, कर्मचारी आदि भी नियुक्त कर ले। परन्तु समितियों के सब सदस्य और कर्मचारी पूर्णतया सदाचारी, सुपरिचित, अनुकूल आदर्श और शिष्य-वर्ग के लिये हार्दिक सहानुभूति रखने वाले हों। ऐसा न हो कि कोई टका-पन्थी आकर आचार्य-कुल की व्यवस्था को नष्ट वा दूषित कर दे।

५—जैसे दही को बिलोकर मक्खन निकाला जाता है, जैसे कई प्रकार के यन्त्रों और उपायों से किसी पदार्थ का सत वा सार तैयार किया जाता है, वैसे ही आचार्य द्वारा सुशिक्षित ब्रह्मचारी-समुदाय अथवा स्नातक-मण्डल भी तैयार किया जाता है। जो विद्यार्थी अपनी योग्यता, कष्ट-सहन और आचार्य के सुशिक्षण के परिणाम स्वरूप शुद्धाचरण तथा उत्तम ज्ञान से विभूषित होकर स्नातक-पदवी को धारण करते हैं, उनको यदि हम मानवता का नवनीत कहें, तो इसमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है।

६—परिपक्व गति, मति और शक्तिवाला स्नातक ब्रह्मचारी आचार्य के आदेशानुसार, वा उसकी स्वीकृति से गृहस्थाश्रम में, राष्ट्रीय कार्यों में अथवा आजीविका-प्राप्ति के कार्यों में प्रवेश करे। यदि आचार्य किसी कार्य का निषेध करे, तो उस कार्य को न करे। जब-जब भी कोई कठिनाई आये, या कोई दुविधा उत्पन्न हो, तब-तब आचार्य के परामर्श से, और यदि किसी कारणवश आचार्य का परामर्श न मिल सके, तो जो आचार्य-तुल्य श्रेष्ठ विद्वान् सुलभ हों, उनके परामर्श और सहयोग से कठिनाइयों और दुविधाओं को दूर करे।

७—देश, धर्म, जाति, मानवता और उत्तम आदर्शों के प्रतिपालन के लिये जब-जब भी आचार्य किसी प्रकार के त्याग, तप, बलिदान वा अनुष्ठान का आदेश दे, तब-तब उसको बिना किसी ननुनच के शिरोधार्य करना, सदैव सब प्रकार से आचार्य का प्रियाचरण करना, सब ब्रह्मचारियों आदि का धर्म है। सब श्रेष्ठ नागरिकों को सभी शुभ कर्मों में खूब बढ़-चढ़ कर भाग लेना चाहिये। त्याग, तप, बलिदान, उदारता, सहनशीलता और परोपकार के जितने भी कार्य हैं, वे प्रकारान्तर से कर्त्ता के लिये भी अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। सत्याचरण के इस लाभकारी अंग को सब कोई सदैव अपने सामने रखें और सब के हित में अपना हित समझें।

८—आचार्य और शिष्य के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों का शास्त्रीय उल्लेख बहुत सुन्दर और युक्तियुक्त है। वह समझ में भी आता है। खोज करने पर आचार्य और शिष्य-परम्परा के अनेक सुन्दर दृष्टान्त प्राचीन इतिहास में मिल जाते हैं। तथापि प्रश्न उत्पन्न होता है कि उत्तम होने पर भी आचार्य और शिष्य की प्राचीन परम्परा लुप्त क्यों हो गई? वर्तमान काल में कहीं भी उसके दर्शन क्यों नहीं होते? उसका पुनरावर्तन क्यों नहीं होता?

९—समाधान यह है कि आरम्भ में नागरिकों की पारस्परिक फूट से आचार्य-शिष्य-परम्परा नष्ट हुई। फिर विदेशियों के पादाक्रान्त होकर आचार्य-कुल नष्ट हुए और इस महत्त्वपूर्ण संस्था का लोप हो गया। विदेशी आक्रान्ताओं के साथ जो सघर्ष छिड़े, वे हजारों वर्ष तक चलते ही रहे। इसलिये इस महत्त्वपूर्ण संस्था का पुनरुद्धार भी न हो सका। इसी बीच में विदेशियों ने अपने लाभ के शिक्षा-विधान प्रचलित कर दिये। और, वे ही इस समय तक भी प्रचलित हैं।

१०—चिरकाल से आचार्य-कुल के पुनरुद्धार पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। यह कार्य किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की सहायता से पूर्ण होने वाला नहीं हैं। इसको सम्पूर्ण राज्य के गम्भीर प्रयत्नों और जागृत-जनता के पूर्ण सहयोग से ही पुनर्प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। जब राज्य इस ओर समुचित ध्यान देगा, तब आचार्य और शिष्य के प्राचीन आदर्शों को पुनरपि जीवित किया जा सकेगा। आरम्भ में सुयोग्य आचार्यों के अभाव में कुछ

कठिनाइयों का होना भी संभव है। जो लोग प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के भक्त और प्रशंसक हैं, उनको इस दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिये।

११—वेद-मन्त्र में आचार्य-कुल के लिये "अमा" शब्द का प्रयोग है। मिल-जुलकर साथ रहने का स्थान, यह "अमा" शब्द का भाव है। जिस दिन सूर्य और चन्द्र मिलकर रहते हैं, उसका नाम "अमावस्या" लोक-प्रसिद्ध है। आचार्य-कुल में आचार्य सूर्य के समान है और शिष्य चन्द्रमा के तुल्य हैं। शिष्य के विद्यादि गुणों से पूर्णतया विभूषित होने के लिये आचार्य और शिष्य के निकट-निवास की व्यवस्था भी अत्यन्त वाँछनीय है।

१२—आचार्य के उपदेश और आदेश तथा शिष्य-वर्ग द्वारा उसके प्रतिपालन से गुरु-दक्षिणा का प्राचीन आदर्श भी सामने आता है। आचार्य अपने स्वार्थ-साधन के लिये कुछ कहेगा, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्य का उपदेश वा आदेश शिष्य और संसार के कल्याण के लिये ही होता है। उसके प्रतिपालन में किसी सुयोग्य शिष्य वा प्रवुद्ध-समाज को क्या इन्कार हो सकता है? जो विद्या-विक्रय करते हैं, अथवा जो आचार्य को भृत्य समझते हैं, उनकी कथा यहाँ नहीं है। प्रजा-पालन, विद्या-प्रचार, देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से मुक्त होने का शास्त्रीय अनुष्ठान तो गुरु-दक्षिणा चुकाने का ही एक प्राचीन विधान है।

१३—पारस्परिक सौजन्य, सहृदयता, माधुर्य और स्निग्धता आचार्य तथा शिष्य-परम्परा की जान है। इन सम्बन्धों को उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर करने का ध्यान रखना भी आवश्यक है, और यथार्थता का भी। भय, लोभ, भ्रान्ति वा भावुकतावश जो कुछ किया जाता है, वह शीघ्र ही वास्तविकता की चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो जाता है। मन्त्र में गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध और सम्मिलित-परिश्रम का उद्देश्य "घृत" सूचित किया गया है। यह घृत सफलता, प्रगतिशीलता, सार-सम्पन्नता और यशस्वी-जीवन का ही सूचक है। "घृ क्षरणदीप्त्योः" इस धातु से घृत शब्द की सिद्धि होती है।

१४—सद्गृहस्थ अपनी-अपनी सन्तान को निश्चित समय पर आचार्य-कुल में भेज रहे हैं। आचार्य विधिपूर्वक सुशिक्षित करके अपने शिष्यों को सामाजिक

जीवन की ओर अग्रसर कर रहा है। समाज में आदर्श-नागरिकों की वृद्धि हो रही है। राष्ट्र को सुयोग्य अधिकारी पर्याप्त मात्रा में मिलते जा रहे हैं। सभी सुशिक्षित, सुस्वस्थ, कर्त्तव्य-परायण और पूर्णतया धार्मिक हैं। कैसा मनोरम दृश्य है? आचार्य के नेतृत्व में नये समाज, नये राष्ट्र और नये परिवार प्रगति-पथ पर आगे ही आगे बढ़ते चले जा रहे हैं।

---

१६ आचार्य और राजा

आचार्यो ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥

अथर्व० ११। ५। १६

शब्दार्थ :—(आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी है। (ब्रह्मचारी) शिष्य=ब्रह्मचारी (प्रजापतिः) प्रजापालक है। (प्रजापतिः) राजा, प्रजा-पालक=सन्तान, भृत्यवर्ग और अनुयायीजनों का प्रतिपालक (विराजति) शोभा को प्राप्त करता है। (वशी) संयमी पुरुष ही (विराट्) सर्वश्रेष्ठ (इन्द्रः) इन्द्र=ऐश्वर्यवान् दुष्टों का निरोधक, उत्तम अधिकारी (अभवत्) होता है।

भावार्थ :— ब्रह्मचर्य-साधन का उत्तम प्रतिफल तभी प्राप्त होता है, जबकि आचार्य भी पूर्णतया ब्रह्मचारी होता है। जो अपने शिष्यों, भृत्यों, आश्रित अनुयायी वर्गों, सन्तानों, देशवासियों आदि का पालन-पोषण और प्रशिक्षण करता है, वही श्रेष्ठ राजा और ब्रह्मचारी कहलाता है। संसार में सर्वाधिक प्रशंसा प्रजा-पालक ब्रह्मचारियों की ही होती है। जो संयमी पुरुष होते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ पदों तथा ऊंची मर्यादाओं एवं अनेक प्रकार के ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले होते हैं।

प्रवचन

१—शिष्य-वर्ग का ही नहीं, स्वयं आचार्य-वर्ग का भी ब्रह्मचारी होना परमावश्यक है। यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द के सुविस्तृत भावार्थ का पुनरपि विशेष मनन कीजिये। ईश्वर की उपासना, वेदों का पठन-पाठन शुद्धाचरण, वीर्यरक्षा, सत्य की खोज और यज्ञमय-जीवन को ब्रह्मचर्य कहते हैं। जो ब्रह्मचारी नहीं है, वह तो आचार्य पद का अधिकारी ही नहीं है। आचार्य की मौखिक शिक्षा की अपेक्षा, उसके क्रियात्मक जीवन का प्रभाव शिष्यों पर बहुत शीघ्र और बहुत गहरा होता है। आचार्य अपने गुण, कर्म और स्वभाव, में भी सचमुच ही आचार्य होना चाहिये। वह नाम मात्र का आचार्य न हो।

२—कुछ लोग आधुनिक अध्यापक-समाज से उन सब बातों की आशा करते हैं, जिनका वेदादि शास्त्रों में आचार्य के सम्बन्ध में उल्लेख है। यदि आधुनिक अध्यापक-समाज आचार्य के प्राचीन और शास्त्रीय स्वरूप का मनसा, वाचा, कर्मणा अनुकरण करे, और कर सके, तो निस्सन्देह यह बहुत अधिक प्रसन्नता की बात है। यदि कुछ थोड़ी-सी भी सफलता, इस दिशा में मिले, तो वह संसार के लिये बहुत अधिक हितकर होगी। परन्तु हमें इस तथ्य को भूलना न चाहिये कि आधुनिक परिस्थितियों में वर्तमान अध्यापक-समाज से कुछ अधिक आशा नहीं की जा सकती।

३—जब तक शिक्षा-प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन न किये जायें, तब तक प्राचीन आदर्शों की पूर्ति की आशा वर्तमान अध्यापकों से की भी कैसे जा सकती है? ध्यान रहे, आंशिक परिवर्तनों से काम न चलेगा। ऐसा करने से तो परिस्थिति और भी अधिक उलझ जायेगी। यदि किसी अधूरे प्रयत्न से कोई मिथ्या आशावाद उत्पन्न हो जायेगा, तो उसका परिणाम और भी अधिक भयंकर होगा। क्योंकि वह तो इस दिशा में विधिपूर्वक होने वाले प्रयत्नों को भी समाप्त कर देगा।

४—एक कहावत है कि बालक ही मनुष्य का पिता होता है। इसका भाव यह है कि जो आज बालक है, वही कल का पिता है। इसी प्रकार जो आज विद्यार्थी है, वही कल का आचार्य होगा। आचार्य ने तो जो कुछ बनना

था, सो वह बन ही चुका। परन्तु शिष्य की भावी उन्नति के विषय में कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। न जाने कैसे-कैसे महान् आचार्य शासक, सेनापति, न्यायाधीश और महामानव आज भोले-भाले बालक के रूप में धूल में खेल रहे हैं, अथवा आचार्य-कुल में रह कर भविष्य के लिये साधना कर रहे हैं।

५—विद्या-प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारियों को उचित है कि वे स्वयं भी समय आने पर आचार्य पद को ग्रहण करें। अपने आचार्य के चरण-चिह्नों पर चलते हुए आचार्य पद की मर्यादाओं की रक्षा, कर्तव्यों की पूर्ति और अधिकारों का उपभोग करें। विद्या-दान द्वारा आचार्य तथा ऋषि-मुनि महात्माओं के ऋण को चुकायें। अपनी सन्तान परम्परा और शिष्य-परम्परा को श्रेष्ठ, विद्वान्, यशस्वी और सुसभ्य नागरिक बनाकर संसार में सुख का प्रसार करें। आचार्य भी ब्रह्मचारी होता है और ब्रह्मचारी ही आचार्य होता है। शिक्षा-प्रसार और सुधारवाद का यह एक मौलिक-सिद्धान्त है।

६—राजा को भी ब्रह्मचारी होना चाहिये और ब्रह्मचारी ही राज पद का सच्चा अधिकारी है। जब इन्द्रियों के दास और विषय-वासनाओं के जाल में फंसे हुए लोग राजा बनते हैं, या बनाये जाते हैं, तब सर्वत्र ही भारी अनाचार फैल जाता है। क्यों? एक तो इसलिये कि राजा अपने तुच्छ स्वार्थों और अपनी पाशविक कामनाओं की पूर्ति के लिये स्वयं अनाचार करता है। और दूसरे इस लिये कि दुष्टों की दुष्टता से रोकने का नैतिक-बल किसी भी पापी तथा विषय-लोलुप राजा वा शासक में नहीं होता। जब राजा उत्तम होता है, तभी प्रजा भी उत्तम होती है। और जब राजा पतित होता है, तब प्रजा भी पतित हो जाती है। तभी तो युधिष्ठर को उपदेश देते हुए भीष्म पितामह ने कहा था—"राजा कालस्य कारणम्।" अच्छे वा बुरे समय का कारण राजा ही है।

७—जब रक्षक ही भक्षक बन जाये और बाड़ ही खेत को खाये, तब "ब्रह्मचर्यवाद" की रक्षा कौन करे? "यथा राजा तथा प्रजा" का न्याय प्रचलित होता है। राजा की दुर्बलता को देखकर, मिथ्यावादी और धूर्तजनों की चढ़

बन आती है। न्याय और नियम का गला घोटा जाता है। सज्जन लोग कष्ट पाते हैं और दुष्ट मौज उड़ाते हैं। जब तक कोई ब्रह्मचारी आकर अपने फौलादी-पंजे से पापी-राजा और उसके पाप-परायण सहयोगियों का अन्त नहीं करता, तब तक वह पाप-लीला चलती ही रहती है।

८—जो प्रजा-पालक राजा होता है, वही यशस्वी और चिरस्थायी होता है। अन्यायी और अत्याचारी राजा तो तभी तक राज्य करते हैं, जब तक कि वे अपने पाशविक बल के आधार पर ऐसा कर सकते हैं। अत्याचारी शासकों का अपना कोई नैतिक-बल नहीं होता। धोखा-धड़ी और छल-प्रपंच सब दिन नहीं चलेगा।

९—हो सकता है कि भयवश, लोभवश या नीतिवश राजा के मुँह पर कोई कुछ न कहे; परन्तु पापी राजा और पापी शासन के तो विनाश से ही प्रजा का हित और आनन्द होता है। अवसर मिलते ही प्रजा पापी-राजा को और उसके पापी-समाज को यम-लोक का यात्री बना देती है। उत्तम शासक तो वे ही होते हैं, जो प्रजा के द्वारा ही नियुक्त तथा अधिकृत होते हैं। और जो प्रजा के हित के लिये ही शासन-सूत्र को ग्रहण करते हैं।

१०—जब जितेन्द्रिय और पूर्ण विद्वान् पुरुष आचार्य पद को प्राप्त करते हैं, तब अवसर पाकर उनकी कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है। बड़े-बड़े सम्राट् भी उनकी चरण-रज को अपने सिर पर चढ़ाने में गौरव का अनुभव करते हैं। राजाओं-महाराजाओं से भी बढ़कर उनका मान होने लगता है। राजा लोग तो केवल मात्र अपने देश में ही माननीय होते हैं; परन्तु आचार्यों का तो सारे संसार में सम्मान होता है। स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

११—जो जितेन्द्रिय राजा होते हैं, उनकी राज्य-श्री विशेष शोभा को प्राप्त कर लेती है। वे उत्तरोत्तर बड़े-बड़े अधिकार और सम्मान प्राप्त करते हैं। वैदिक-भाषा में ऐश्वर्य और सत्ता के सबसे बड़े स्वामी, संरक्षक, नियामक और उपभोक्ता को "इन्द्र" कहते हैं। इन्द्र होना एक बड़ी सिद्धि है। जितेन्द्रिय आचार्यों और शासकों को ही यह सिद्धि, पदवी वा विभूति प्राप्त होती है। सम्पूर्ण शिक्षा-विभाग, एवं शासन-तन्त्र में ब्रह्मचारियों की ही बहुलता और प्रधानता होनी चाहिये। जो ब्रह्मचारी नर-नारी हों, उनका ही समाज एवं

लोक-व्यवहारों में विशेष सम्मान होना चाहिये। संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि का उत्तम उपाय यही है।

१२—प्रस्तुत सन्दर्भ में वेद ने आचार्य और राजा दोनों के ही ब्रह्मचारी होने पर विशेष बल दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि छोटी आयु के बालकों, वा विवाह से परांग्मुख पुरुषों को ही ब्रह्मचारी नहीं कहते; अपितु बड़ी आयु वाले एवं सन्तान वाले पुरुष भी ब्रह्मचारी होते हैं। "प्रजापति" और 'वशी" शब्द यहाँ विशेष रूप से मनन करने योग्य हैं। प्रजापति शब्द से प्रजा और सन्तान के प्रतिपालन तथा वशी शब्द से जितेन्द्रियता का उपदेश यहाँ प्राप्त होता है।

१३—आचार्य और राजा दोनों की श्रेष्ठता का मिला-जुला उपदेश भी यहां देखने योग्य है। थोड़े शब्दों में अधिक भावगर्भित उपदेश देना, यह वेद की विशेष शैली है। जब उत्तम आचार्य और उत्तम राजा होते हैं, और वे पारस्परिक सहयोग से शिक्षा-प्रसार, देश-सुधार, राष्ट्रोन्नति और संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि के उद्योग करते हैं, तभी सब का कल्याण होता है। उत्तम आचार्य के अभाव में उत्तम राजा अधूरा है। उत्तम राजा के अभाव में उत्तम आचार्य को भी अपंग समान जानो।

१४—"इन्द्र" शब्द का विचार पहले किया गया है। इस विषय में यह भी जानने योग्य है कि भोगी, विलासी तथा अज्ञानी लोगों को "असुर" कहते हैं। जो असुरों के राज्य को समाप्त करके उत्तम पुरुषों को राज्याधिकारी बनाता है, वह "इन्द्र" है। जो उत्तम पुरुषों के राज्य का नेतृत्व एवं नियन्त्रण करता है, वह "इन्द्र" है। जो अज्ञान-अन्धकार का नाश करता है, वह "इन्द्र" है। इसीलिये सूर्य का भी एक नाम इन्द्र है, और परमात्मा का भी। विराट्-इन्द्र का अर्थ है, बड़ा इन्द्र अर्थात् महेन्द्र। बड़ाई, यश-प्राप्ति और उन्नति की कोई सीमा नहीं है। विद्या-व्यसनी और पुरुषार्थी लोग जहाँ पहुँच जाते हैं, साधारण लोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

१७ राष्ट्र-रक्षा

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

अथर्व० ११। ५। १७

शब्दार्थ :—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य रूपी तप के द्वारा (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (विरक्षति) विविध प्रकार से और विशेष रूप से रक्षा करता है। (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के पालन के द्वारा ही (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी की, ब्रह्मचर्य की (इच्छते) इच्छा करता है।

भावार्थ :—जब शासक-वर्ग पूर्णतया संयमी और सदाचार-परायण होता है, तभी राष्ट्र को उत्तम संरक्षण प्राप्त होता है। लम्पट-शासक तो राष्ट्र के लिये संकट और झंझट के कारण ही होते हैं। आचार्य अपने चरित्र की उतमता और अपने यश के विस्तार द्वारा उत्तम, कुलीन, नीरोग, यशस्वी, और मेधावी शिष्यों की कामना करता है।

प्रवचन

१—राष्ट्र किस को कहते हैं? एक ही जैसे आदर्श और एक साहित्य, भाषा, इतिहास, संकल्प, मनोरथ, रीति-नीति एवं एक-सा ही खान-पान और पहिरान रखने वाले मनुष्यों के देश को राष्ट्र कहते हैं। संक्षेप में यूं भी कह सकते हैं कि एक ही जैसी भाषा और सभ्यता रखने वाले मनुष्यों के बिना तो राष्ट्र और राष्ट्रीयता की कोई परिभाषा हो ही नहीं सकती।

२—राजा किस को कहते हैं? किसी राष्ट्र के सर्वोच्च संरक्षक अथवा अधिनायक को राजा कहते हैं। विद्या, बल, अनुभव और परोपकार-शीलता आदि शुभ गुणों के आधार पर राजा का निर्वाचन समय-समय पर किया जाये, यह वेद का विधान है। राजा का पुत्र ही राजा हो, अथवा पाशविक-बल के

आधार पर जनता के न चाहने पर भी कोई राजा बन बैठे और प्रजा की इच्छा के विरुद्ध उस पर शासन करे, ऐसा कोई भी विधान वेद को माननीय नहीं है।

३—राजा का निर्वाचन किया जाये और वह निर्वाचित राजा शुभ गुणों से युक्त हो, यह भाव राजा शब्द से भी स्पष्ट है। राजति—इति—राजा। जो अपने विद्यादि शुभ गुणों के आधार पर विशेष शोभा को धारण करता है, उसे राजा कहते हैं।

४—राजा की क्या आवश्यकता है? विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि, सर्वहितकारी आयोजनों का अनुष्ठान, प्रजावर्ग में योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन और आवश्यकता के अनुसार अर्थ का वितरण और पशु-पक्षी, अन्न-धन और सीमाओं का संरक्षण. दुष्टों का दमन, सज्जनों का पालन तथा सम्मान, विद्या और प्रेम-भाव का विस्तार संसार, के साथ स्निग्धता पूर्ण सहयोग—सम्बन्धों की स्थापना, ये राजा के तथा उसके आधीन राज—तन्त्र के आवश्यक कर्तव्य हैं।

५—राजा के होने पर ही इन कार्यों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। एक तन्त्रवाद, अधिनायकवाद, पंचायती राज, सैनिक-शासन, प्रजातन्त्रवाद एवं साम्राज्यवाद आदि कई प्रकार की प्रणालियाँ राज्य-शासन की संसार में प्रचलित हैं। इनके समर्थन में वेदों के कई वचन मिलते हैं। परन्तु उन सभी में जनता द्वारा मत-प्रदान अर्थात् चुनाव का सामान्य विधान है। इन सभी अनुविद्याओं का समावेश राजा शब्द में हो जाता है।

६—कुछ लोग राजा के स्थान पर राजसभा की कल्पना करते हैं। पंचायती-राज्य में भी प्रमुख पंच वा राज-प्रमुख तो कोई होता ही है। सभापति अथवा प्रधान शब्द भी राजनीति के क्षेत्रों में राजा के समान ही व्यवहार में आते हैं। समानार्थक न होने पर भी राजा, प्रधान, सभापति, राष्ट्रपति, अध्यक्ष और अधिनायक शब्दों में व्यावहारिक-एकता पाई जाती है। यदि यह राजा अर्थात् राज-संस्थान न हो, तो समाज में सर्वत्र ही "मत्स्य-न्याय" प्रवर्तित होने लगे। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, ऐसे ही बलवान् लोग

निर्बलों को खा जायें, और मानव-समाज में भी मछलियों जैसे ही दृश्य दिखाई देने लगें :

७—ऐसी स्थिति न चाहने पर भी जब-जब कहीं न कहीं उत्पन्न हो ही जाती है। तब आपाधापि मचती है, और जिस की लाठी, उसकी भैंस के जो दारुण-दृश्य उपस्थित होते हैं, उनके उल्लेख इपिहास-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। वे इतने भयानक हैं कि उनके स्मरण-मात्र से भी भय उत्पन्न होता है।

८—राजा के पास राष्ट्र-रक्षा का साधन क्या है? यह एक गम्भीर प्रश्न है। स्मार्त-ग्रन्थों में इस प्रश्न के उत्तर बहुत ही विस्तार से दिये गये हैं। रामायण और महाभारत एवं संस्कृत के विपुल नीति-साहित्य में उनका विस्तृत उल्लेख है। वेदों में भी राष्ट्र-रक्षा के उपायों के क्रम-बद्ध और सुविस्तृत उल्लेख हैं। प्रस्तुत प्रसंग में राष्ट्र-रक्षा के जिस उपाय का उल्लेख किया गया है, वह है, ब्रह्मचर्य रूपी तप, अथवा ब्रह्मचर्य पूर्वक तप। यहाँ तप में तपना और तपाना, अर्थात् स्वयं नियम पूर्वक चलना और दूसरों को नियम पूर्वक चलाना, दोनों ही शामिल हैं। जो लोग उत्तम मर्यादाओं का उल्लंघन करें, उनको दण्ड देना भी राजा का एक आवश्यक कर्तव्य है। अत: स्पष्ट है कि यहाँ राष्ट्र-रक्षा का जो उपाय निर्दिष्ट है, वह उपायों का भी उपाय है।

९—राष्ट्र-रक्षा और समाज-व्यवस्था के प्रसंग में "ब्रह्मचर्य-पूर्वक तप" किसको कहते हैं? प्रत्येक सुसभ्य-राष्ट्र के नागरिकों को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये। मनसा, वाचा, कर्मणा सब कालों, सब परिस्थितियों और सभी देशों में सदाचार के व्यवहार को ही ब्रह्मचर्य पूर्वक तप कहते हैं।

१०—जब राष्ट्र के सब निवासी सुशिक्षित, सदाचारी, कर्तव्य-निष्ठ, शूर-वीर, जितेन्द्रिय और सब प्रकार से सब के साथ प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथा-योग्य, व्यवहार करने वाले होते हैं, तभी राष्ट्र की रक्षा होती है। अन्यथा दूसरे धूर्त-राष्ट्र प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में पिछड़े हुए देशों में अपनी स्वार्थ-लीला फैला देते हैं। चरित्र-भ्रष्ट नागरिक अनायास ही उन धूर्त-राष्ट्रों के माया-जाल में फँस जाते हैं।

११—जब कभी कहीं अभाग्योदय से ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, तब

उस राष्ट्र की अपार-क्षति होती है। राष्ट्र-रक्षा का सच्चा उपाय तो सदाचार ही है। सदाचार और ब्रह्मचर्य का व्यावहारिक और सैद्धान्तिक रूप एक-सा ही है। सदाचार के अभाव में तो सेनाओं के लोहे और बारूद एवं नीति-भत्ता के प्रयोग भी व्यर्थ ही होते हैं। दुराचारी सैनिक तो अपने ही राष्ट्र में उपद्रव मचाने लगते हैं। अपने स्वार्थों के लिये वे निर्लज्जता-पूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों की हत्या भी कर देते हैं।

१२—आचार्य अपने आचार्य-कुल की स्थापना क्यों करता है? श्रेष्ठ-आदर्शों की रक्षा और अपने शुभ विचारों के प्रसार के लिये ही आचार्य अपने आचार्य-कुल की स्थापना करता है। जो श्रेष्ठ विद्वान् होते हैं, वे सबके भले में अपनी भलाई समझते हैं। जिस सिद्धान्त से वे स्वयं लाभ उठाते हैं, उसी का प्रचार वे दूसरों के हित के लिये भी करते रहते हैं। घोर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सज्जन-गण अपने कर्तव्यों का विधि पूर्वक पालन करते ही रहते हैं। संसार के नीति-निपुण लोग उनकी प्रगतियों के विषय में क्या कहते हैं? और क्यों कहते हैं? इसकी वे कुछ भी चिन्ता नहीं करते? यूं कहना चाहिये कि शुभ कर्म किये बिना तो वे रह ही नहीं सकते।

१३—क्या आचार्य को किसी पुरस्कार की इच्छा है? नहीं। किसी सांसारिक धन, धान्य, पद, मर्यादा या अधिकार की प्राप्ति आचार्य का उद्देश्य नहीं है। अपने कर्तव्य का पालन करने से सज्जन पुरुषों को जो सुख और सन्तोष प्राप्त होता है, उसको प्राप्त करने के लिये ही आचार्य ने इस अध्ययन और अध्यापन के महान् उत्तरदायित्व को ग्रहण किया है।

१४—आचार्य क्या कहता है? आचार्य यही कहता है कि उसके अध्ययन और अध्यापन के कार्यक्रम बिना किसी विघ्नबाधा के, उसकी सुनिश्चित् योजना के अनुसार पूर्ण होते रहें और उसे पर्याप्त मात्रा में सुयोग्य शिष्यों की प्राप्ति होती रहे। वह उनको सुयोग्य बना-बनाकर कार्य-क्षेत्र में भेजता रहे। वह संसार के सज्जन-समुदाय में, सुख-समुदाय में वृद्धि करता रहे। इससे भिन्न उसकी और कोई कामना नहीं है। यही उसका स्वार्थ है, यही उसका परमार्थ। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये आचार्य किसी से किसी प्रकार का

भी समझौता करना नहीं चाहता। अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी अनधिकारी के हस्तक्षेप को वह सहन नहीं करेगा। किसी की पाप-कमाई में से अपने 'कुल' के लिये वह कुछ भी ग्रहण न करेगा। उत्तम और बड़ी-बड़ी सफलताओं के लिये साधनों की पवित्रता भी परमावश्यक है।

१५—राष्ट्र-वासियों को उचित है कि वे अपनी सन्तान को, विशेषरूप से उत्तम लक्षणों से युक्त सन्तान को, नियम-पूर्वक आचार्य-कुल में भेजें और अपने राष्ट्र के भविष्य को उन्नत एवं उज्ज्वल बनावें। जब शिष्य-वर्ग विशेष रूप से सुयोग्य और सुपात्र होता है, तभी वह आचार्य के उपदेशों और रहस्यों को समझकर, उनके अनुसार आचरण करने में सफल हो सकता है। कुपात्र शिष्य तो आचार्य की निन्दा के कारण ही होते हैं। इसी लिये कुपात्रों को विद्या-दान का निषेध है।

१६—आचार्य ब्राह्मण-वर्ण का शिरोमणि है, राजा क्षत्रिय वर्ण का मूर्धन्य। दोनों ही राष्ट्र के दो प्रमुख स्तम्भ हैं। एक ज्ञान का प्रतिनिधि है, दूसरा कर्म का। एक युक्ति, प्रयुक्ति, उपदेश और शिक्षा द्वारा राष्ट्र में संयम का प्रसार करता है और मनुष्य की कर्तव्य-भावना को जागृत एवं विकसित करता है, दूसरा न्याय-दण्ड को ग्रहण करके राष्ट्र के नागरिकों को सदाचार के उच्च नियमों के अनुसार चलाता है। जो लोग स्वेच्छा से उत्तम नियमों का व्यवहार न करें, उनसे राज्य-शक्ति ही नियमों का पालन करवा सकती है।

१७—साधारण लोग अल्प-ज्ञानी होने के कारण आचार्य के उपदेश की भाषा को तो कम ही समझते हैं; परन्तु राजा के आदेश को तो उन्हें समझना ही पड़ता है। उसे वे शीघ्र ही समझ भी लेते हैं। राजा के आदेश का उल्लंघन करने पर यथोचित दण्ड भी भोगना ही पड़ता है। समाज-सुधार के कार्यों में, यथा बाल-विवाह-निषेध, वृद्ध-विवाह-निषेध, अनिवार्य-शिक्षा, अनिवार्य शारीरिक-परिश्रम, समानता के आधार पर सार्वजनिक स्थानों का उपभोग, उन्नति और आजीविका प्राप्ति के विहित-साधनों को अपनाने की स्वतन्त्रता, आदि-आदि कार्यों के आचार्य और राजा के मिले-जुले प्रयत्नों से बहुत शीघ्र ही उत्तम फल प्राप्त होते हैं।

१८—सभी वेदानुयायियों को यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि राष्ट्रीयता को विश्व-हित में बाधक न होने दिया जाये। राष्ट्रीय-हितों की साधना ऐसे रूप में की जाये, जिससे अन्य राष्ट्रों के हित पर आँच न आने पाये। वेदों ने विश्व-हित को सर्वोपरि माना है। राष्ट्र-रक्षा आदि के वैदिक उपदेश किसी देश-विशेष वा जाति-विशेष के लिये नहीं है। वे तो सभी के लिये हैं। जो कोई भी उनका अनुष्ठान करेगा, वही उनसे लाभान्वित हो जायेगा। वेदों का उपदेश सभी के लिये है। उनसे लाभ उठाने में सभी व्यक्ति, समाज, वर्ग और राष्ट्र पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

---

१८ विवाह का आदर्श

ब्रह्मचर्येण कन्या ३, युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येण, अश्वो घासं जिगीषति॥

अथर्व० ११। ५। १८

शब्दार्थ—(ब्रह्मचर्येण) उत्तम आचार-विचार, विद्या-प्राप्ति, सम्पूर्ण संयम के द्वारा (कन्या) कन्या (युवानम्) पूर्ण स्वस्थ, नव-यौवन-सम्पन्न और विद्वान् (पतिम्) पालन, पोषण और संरक्षण करने में समर्थ पति को (विन्दते) प्राप्त होती है। (अनड्वान्) बैल और (अश्वः) घोड़ा भी ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (घासम्) घास-दाने आदि अपने भोजन को (जिगीषति) प्राप्त करता है, पचाता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए ही कुमारों और कुमारियों को विधि पूर्वक विवाह सूत्र में आबद्ध होना चाहिये। मानव-जाति के समान ही पशु-वर्ग के लिये भी ब्रह्मचर्य का पालन बहुत आवश्यक है। वीर्यरक्षा और

सुशिक्षा के द्वारा बैल और घोड़े आदि पशु भी सुख से रहते हैं, और सब के लिये हितकारी होते हैं।

प्रवचन

१—ब्रह्मचर्य-पालन का विधान कुमारों के लिये भी है, और कुमारियों के लिये भी। ब्रह्मचर्य-पालन के अभाव में तो कुमारों और कुमारियों को वह ऊंची योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती, जिस की मानव-जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सभी को एक ही जैसी आवश्यकता है।

२—आचार्य के आदेश और उसकी स्वीकृति एवं प्रेरणा से ही ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व कुमारों और कुमारियों दोनों को ही अपने-अपने आचार्य-कुल में रह कर जीवन को सफल बनाने वाली सभी शिक्षाओं की प्राप्ति कर लेनी चाहिये और सब प्रकार के उत्तम गुणों को धारण कर लेना चाहिये।

३—आयुर्वेद-शास्त्र की रीति से विवाह के समय कन्या की आयु कम से कम सोलह वर्ष और कुमार की आयु कम से कम पच्चीस वर्ष अवश्य ही होनी चाहिये। विवाह में वर की आयु वधू की आयु से लगभग ड्योढ़ी होनी चाहिये। कन्या की 'कन्या' संज्ञा तभी तक रहती है, जब तक कि उसका पति से संसर्ग नहीं होता। कन्या नाम कमनीयता, कान्ति और पवित्रता का विशेष रूप से प्रति-बोधक है।

४—गुण, कर्म, स्वभाव, शिक्षा, कुल, और स्वास्थ्य आदि की परीक्षा करके, शील और स्वभाव आदि के उत्तम और परस्पर अनुकूल होने पर ही कन्या का कुमार के साथ विवाह करना चाहिये। कुमारी का विवाह विधुर या वृद्ध से न किया जाये। कुमार का विवाह विधवा या वृद्धा से न होना चाहिये। यदि कभी विशेष कारणों से इन नियमों का पालन न हो सके, तो बात और है, परन्तु सामान्य-नियम तो ये ही हैं। बाल-विवाह, और अनमेल-विवाह युवकों तथा युवतियों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा उत्कर्ष और उनकी भावी-सन्तति के लिये अहितकर होते हैं।

५—विधुर का विधवा से, एवमेव विधवा का विधुर से विवाह हो सकता है। विधुर-विवाह और विधवा विवाह में निषेधक-नियम कोई नहीं; परन्तु

साधारणतया विधुर का विवाह कुमारिका तथा विधवा का विवाह कुमार के साथ न होना चाहिये। यदि कभी विशेष परिस्थितियों में ऐसा करना ही पड़े, तो उसे अपवाद स्वरूप समझना चाहिये। यदि कोई कुमार वा कुमारी विवाह से पूर्व किसी रूप में ब्रह्मचर्य-व्रत को भंग करते हैं, तो वे अपने कुमारपन को ही नष्ट करते हैं।

६—ऐसा करने से नाना प्रकार के दोष और रोग भी उनको लग जाते हैं। समाज में अशान्ति फैलती है, पति-पत्नी के पारस्परिक अभिन्न सम्बन्धों की प्रतिष्ठा में बाधा पड़ती हैं, और कभी-कभी तो सन्तान को भी अपने ऐसे दोषी माता-पिताओं की भूलों के कुपरिणाम भोगने पड़ जाते हैं। इतना ही नहीं, विशुद्ध-वंश कलंकित हो जाते हैं, और पूर्वजों की कीर्ति में भी बट्टा लग जाता है।

७—विवाह के पश्चात् आरम्भ होने वाले दाम्पत्य-जीवन के विषय में सभी बातों की आवश्यक जानकारी यथा समय अपने माता-पिता, आचार्य-आचार्या आदि गुरुजनों और अभिभावकों से प्राप्त कर लेनी चाहिये। माता-पिता, आचार्य और आचार्या एवं गुरुजनों को भी उचित है कि कुमारों और कुमारियों को उचित समय पर ही दाम्पत्य-जीवन के विषय में सभी आवश्यक उपदेश दे दें और सदा ही उनकी देख-रेख तथा सहायता करते रहें।

८—विवाह की संस्था का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति, संसार में आदर्श नागरिकों की वृद्धि और मानवता का संरक्षण ही है। सन्तान केवल उतनी ही उत्पन्न की जाये, जिसका पालन-पोषण और प्रशिक्षण करने का सामर्थ्य माता-पिता में विद्यमान हो। कोई दूसरों की सहायता के भरोसे पर बच्चे पैदा न करे। यही वैदिक—मर्यादा है। कुछ लोग विवाह को वीर्यनाश का खुला आज्ञा-पत्र समझने की भूल कर बैठते हैं। मरणं विन्दु पातेन, जीवनं विन्दु धारणात्। वीर्य-रक्षा से मनुष्य को अमर-जीवन की प्राप्ति होती है। वीर्य-नाश से मनुष्य शीघ्र ही रोगों में फंस जाते हैं, और शीघ्र ही बूढ़े हो जाते हैं, सदा दुर्दशाग्रस्त बने रहते हैं और जल्दी ही मर भी जाते है।

९—जो पालन कर सकता है और पालन करता है, वह विवाहित युवक अपनी पत्नी का पति कहलाता है। गृहस्थाश्रम में पति का स्थान राजा जैसा

है, और पत्नी का स्थान रानी का है। दोनों को पारपरिक सहयोग, सद्भाव तथा विवेक के साथ सब व्यवहारों का संपादन और सब यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये। दोनों को पारस्परिक व्यवहार में मधुर, स्निग्ध और शिष्ट वार्तालाप ही करना चाहिये।

मधुर वचन हैं औषधि, कटुक वचन है तीर।
कर्ण-द्वार होय सँचरै, साले सकल शरीर॥

१०—मेर-तेर और अधिकारों का झमेला फैलाकर, पति-पत्नी में पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न करना-कराना अत्यन्त अवांछनीय है। शुष्क-विवाद और किसी की निन्दा-चुगली से दोनों को ही बचना चाहिये। गृहस्थाश्रम में पति और पत्नी दोनों को ही सखा-सखी भाव को अपना कर, अपने-अपने लोक-व्यवहारों का सम्पादन करना चाहिये। छोटे-बड़े, दास-दासी और ऊंच-नीच की बातें तो अनुचित एवं भड़काने वाली हैं। हाँ, प्रेम के आधार पर, हित-कामना से पति-पत्नी का एक दूसरे के आधीन होना तो उत्तम है।

११—सुख पूर्ण गहरी नींद आये, अच्छी भूख लगे, स्वास्थ्य उत्तम रहे, कोई भय न हो, शोक न हो, चिन्ता न हो, विवाद न हो, अभाव न हो, निन्दा न हो, तभी दाम्पत्य-जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। यह कहना तो बाहुल-मात्र ही होगा कि ब्रह्मचारियों को दाम्पत्य-जीवन का सम्पूर्ण सुख प्राप्त होता है। जो युवक ऋतु-काल के पश्चात् विधि पूर्वक अपनी पत्नी को वीर्य-दान देते हैं, और कामोन्माद के वशीभूत होकर व्यर्थ ही वीर्य को नष्ट नहीं करते वे भी ब्रह्मचारी ही होते हैं। ब्रह्मचर्य-पालन में बाधक होने वाले वस्त्र, आभूषण, भोजन, विचार, व्यवहार और संगी, साथी आदि से बच कर रहना तो सभी को उचित है, गृहस्थियों को भी, विद्यार्थियों को भी।

१२—देखो—बैल [साण्ड] और घोड़े आदि पशु भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यद्यपि बन्दर और कुत्ते व्यर्थ ही वीर्य-नाश किया करते हैं, तथापि पशु जगत् में ब्रह्मचर्य के वीर्य-रक्षा, ऋतु-दान और अमोघ-वीर्य होने आदि व्यवहारों का पालन बहुत उत्तमता से होता है। काम-विकार से बचने की शिक्षा तो मनुष्य-पशु जगत् से भी प्राप्त कर सकता है।

१३—बैल और घोड़े बहुत उपयोगी और कष्ट-साध्य कार्य करते हैं। घास जैसे साधारण पदार्थों में से भी वे अपने शारीरिक पोषण के लिये आवश्यक तत्वों को प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्मचर्य-पालन के लाभ और चमत्कार पशु-जगत् में भी उत्तमता से देखे जा सकते हैं। मानवता के लिये तो यह ब्रह्मचर्य-पद्धति उत्तम है ही, पशु-पक्षियों के लिये भी यह उत्तम है।

१४—कुछ लोग कुमारों के लिये तो ब्रह्मचर्य के महत्त्व को स्वीकारते हैं, परन्तु कुमारियों के ब्रह्मचर्य की बात उनकी समझ में नहीं आती। ऐसे लोग कन्याओं के लिये भी ब्रह्मचर्य के विधायक प्रस्तुत मूल वेद-पाठ का मनन गम्भीरता पूर्वक करें। ऐसा करने से उनको नया बोध प्राप्त होगा और उनकी सभी शंकाओं का समाधान हो जायेगा। वर्तमान में मानव-समाज को जिन अनेक विध समस्याओं, यथा रोगों, भोजन की कमी, जनसंख्या की वृद्धि, आदि, का सामना करना पड़ रहा है, उनका एक मुख्य कारण बाल-विवाह, कन्याओं के प्रशिक्षण और शारीरिक एवं मानसिक-विकास के प्रति उदासीनता, कुमारों और कुमारियों की अशिक्षा वा कुशिक्षा आदि ही हैं।

१५—बलवान् और मेधावी सन्तान तभी उत्पन्न होती है, जबकि माता-पिता और गुरुजन भी बलवान्, मेधावी और ब्रह्मचर्य-व्रत के प्रतिपालक हों। कच्चे, बोदे, भुने हुए, रोगी, गले-सड़े और मसले हुए बीजों से तो उत्तम खेती नहीं हो सकती। इसी प्रकार दुर्बल और दोषपूर्ण रज-वीर्य से बलवान् और मेधावी सन्तान की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

१६—आचार्य और राजा ब्रह्मचर्य रूपी धर्म का पालन करें-करायें, यह पहिले लिखा जा चुका है। विवाहित स्त्री, पुरुषों पर भी राजा और आचार्य को अपनी सतर्क-दृष्टि रखनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में प्रमाद और सदाचार के नियमों का उल्लंघन विवाहित जोड़े ही सबसे अधिक करते हैं। जिनकी इन्द्रियां चंचल हैं, जो विषय-वासनाओं के दास हैं, और जिन के विचार भी गन्दे हैं, ऐसे गृहस्थ ब्रह्मचर्य-संस्थान के सबसे बड़े शत्रू हैं। आचार्य उन को सुधारे, और राजा उनका निरोध करे। स्त्री-पुरुषों के आपस के झगड़ों, काम-विकारों और ब्रह्मचर्य-व्रत-घातक व्यवहारों से जब-तब होने

वाले बखेड़ों को तथा उनके परिणाम स्वरूप होने वाले कुप्रभावों को सभी सम्भव उपायों से रोकना चाहिये।

१७—पति को उचित है कि पत्नी को भोजन-छादन आदि का कोई कष्ट न होने दे। इसी प्रकार पत्नी को भी उचित है कि घर का प्रबन्ध उत्तम रूप में करे, पति को सभी उत्तम कार्यों में सहयोग दे। जब पति और पत्नी एक दूसरे से सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं, तब परिवार की सुख समृद्धि में विशेष वृद्धि होती है। स्त्रियों को मादक-द्रव्यों के सेवन, दुष्ट पुरुषों के संग, पति से पृथक होकर निवास, जहां-तहां के व्यर्थ भ्रमण, पराये घर में जाकर सोने और पराये घर में रहने, इन छः दोषों से सदा ही बचकर रहना चाहिये। जब स्त्रियाँ अपने पति से द्वेष करने लगती हैं, और अपने पिता, भ्राता एवं पुत्रों से विमुख होकर विरुद्ध आचरण करने लगती हैं, अथवा जब वे बन्धु-बान्धवों से रहित हो जाती हैं, तब अत्यन्त गम्भीर और भयावह स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः ऐसी परिस्थियों को कभी भी उत्पन्न न होने दिया जाये।

१८—आठ प्रकार के मैथुन अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष के ध्यान, विषय-कथा, स्त्री वा पुरुष का स्पर्श, स्त्री वा पुरुष से काम-क्रीड़ा, दर्शन, आलिंगन, एकान्त-वास और समागम से सभी स्त्री-पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक बचना चाहिये। किसी स्त्री वा पुरुष का श्रृंगार-प्रिय होना प्रायः उनके काम-विकार-ग्रस्त होने का सूचक है। सात्विक विचार, धर्मानुष्ठान और सत्यता का अनुसरण करते हुए सभी काम-विकारों से बचकर प्रत्येक स्त्री-पुरुष वा पति-पत्नी को शुद्धता का अनुसरण करना चाहिये।

१९—पुरुष-वर्ग को उचित है कि स्त्रियों के नाच-गान आदि के उत्सव आयोजित न करे। स्त्रियों को उचित है कि भड़कीले कपड़े पहनकर, अर्धनंगी रह कर और चटक-मटक कर, पुरुषों के हाथ का खिलौना न बनें। तथा कथित सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर भले घरों की बहू बेटियों का पर-पुरुषों के सामने नाचना-गाना तो अत्यन्त अवांछनीय दुष्कर्म है। आचार्य, राजा और सभी भले लोगों को इस प्रकार के भ्रष्ट व्यवहारों को बन्द करना चाहिये।

२०—कामी, कपटी, और व्यापारी लोगों ने वैज्ञानिक-ब्रह्मचर्य तथा सन्तति-निरोध के नाम से जो कई प्रकार के घातक आन्दोलन चला रखे हैं,

वे सभी आयुष्य को नष्ट करने वाले, अत्यन्त भ्रामक और घातक हैं। उन से बचना भी आवश्यक है। कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करके सन्तानोत्पत्ति को रोकना और व्यभिचार-लीलाओं में फंसे रहना तो आत्मघात का मार्ग है। सन्तति-निरोध का श्रेष्ठ, हितकर, धर्मानुमोदित, अनुभूत और शत्प्रतिशत सफल मार्ग तो ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य-व्रत पालन के अनुकूल और उत्साह-वर्धक परिस्थितियों का निर्माण धार्मिक सामाजिक तथा राजकीय नियमों के अनुसार करना चाहिये।

---

१९ मौत की मौत

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत॥

अथर्व० ११। ५। १९

शब्दार्थ :—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य रूपी तप से (देवाः) दिव्य पुरूषों ने, विद्वानों ने (मृत्युम्) मृत्यु को (अपाघ्नत) दूर भगा दिया, पछाड़ डाला, मार दिया। (इन्द्र) भगवान् ने, राजा ने, नेता ने, जीवात्मा ने, (ब्रह्मचर्येण) वेदाध्ययन और धर्माचरण के द्वारा (देवेभ्यः) आस्तिक पुरुषों के लिये अधिकारी जनों के लिये, इन्द्रियों के लिये (ह) बहुत उज्ज्वल (स्वः) सुख, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द, सौन्दर्य, बल (आ भरत) प्रदान किया है।

भावार्थ :—ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले दीर्घ आयु को प्राप्त करते हैं। वे मृत्यु को भी जीत लेते हैं। जब राजा ब्रह्मचारी होता है, तभी वह प्रजा को सुखी कर सकता हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जब आत्मा उत्तम संस्कारों से युक्त होता है, तभी वह शरीर को स्वस्थ रख सकता है, तभी

इन्द्रियों को पूर्णतया विकसित कर सकता है और तभी वह सुख का उपभोग भी कर सकता है। ब्रह्मचारी विद्वानों का सुयश तो अमर होता है।

प्रवचन

१—ब्रह्मचर्य एक सर्वश्रेष्ठ जीवन-प्रणाली भी है, और श्रेष्ठ-जीवन की आधार-शिला भी। ब्रह्मचर्य के साथ जब तप का भी सम्मिश्रण हो जाता है, तब वह सोने पर सुहागे का काम करता है।

२—जीवन उत्तम आचार-विचार से युक्त है। शरीर पुरुषार्थी, सुदृढ़, कष्ट-सहिष्णु, एवं रोग-रहित है। ऐसी अवस्था में वह कौन-सी वस्तु है, जो दुर्लभ है? वह कौनसी सफलता है, जो प्राप्त नहीं की जा सकती? सांसारिक और पारलौकिक सभी सम्पदाओं और सफलताओं को सच्चे ब्रह्मचारी अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं।

३—विद्वान् लोग विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान करते हैं। व्रत धारण करते हैं। गुरुमुख से विद्या-ग्रहण करते हैं, अपने लोकोपयोगी कार्यों के द्वारा, अपने शुभ विचारों को संसार में सब ओर फैलाते हैं, जीवन में निरन्तर जिज्ञासु, सत्यशील, निरभिमानी और परोपकारी बन कर रहते हैं। समय आता है, जबकि वे जीवन-संघर्ष में आने वाली प्रत्येक कठिनाई को लांघ जाते हैं।

४—वे विशेष सफलतायें प्राप्त करते हैं। ऊंचे-ऊंचे पद प्राप्त करते हैं। उत्तमोत्तम आदर्श स्थापित करते हैं। उनका व्यक्तित्व सम्मान का ही नहीं, श्रद्धा का भी अधिकारी बन जाता है। उन की कीर्ति दिग्दिगान्तरों में फैल जाती है। भौतिक-शरीर का अन्त होने पर भी उनका नाम तथा सुयश जीवित रहता है। मृत्यु के उपरान्त भी वे शताब्दियों पर्यन्त मानवता के पथ प्रदर्शक बने रहते हैं।

५—साधारण लोग मृत्यु से डरते हैं, तो डरा करें। तत्त्ववेत्ताओं को मौत का क्या डर? जब मृत्यु की घड़ी आती है, प्रभु-प्रेम के उल्लास से अनुप्राणित होकर वे तत्क्षण ही घोषणा करते हैं।—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द ।
मरने ही से पाइये, पूरण परमानन्द ।।

और—

मौत यह मेरी नहीं, मेरी क़ज़ा की मौत है ।
क्यों डरूं ? जब मरके दौबारा नहीं मरना मुझे ।।

६—ऐसे देव पुरुष किसी जाति-विशेष वा देश-विशेष की सम्पत्ति नही होते । वे तो सब के होते हैं, और सब के लिये होते हैं । राजा-महाराजा तो अपने राज्य में ही आदर पाते हैं ; परन्तु इन देबों के सामने नत-मस्तक होने में तो सारा ही संसार अपना सौभाग्य समझता है । ये ही वे पवित्र-आत्मा हैं, जो दिलों की दुनियां पर राज्य करते हैं ।

७—ब्रह्मचारियों पर ईश्वर की विशेष कृपा रहती है। वह उनको विविध प्रकार के सुख प्रदान करता है । उत्तम पुत्र, उत्तम भाई, उत्तम मित्र, उत्तम अनुयायी, उत्तमोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ ईश्वर की कृपा और व्यवस्था से ही ब्रह्मचारियों को प्राप्त होते हैं । ब्रह्मचारी ही अभ्युदय के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और ब्रह्मचारी ही मनुष्यता के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को भी प्राप्त करते हैं ।

८—तप किस को कहते हैं ? धर्माचरण में प्रीति और सब प्रकार के विघ्नों को दूर करने की पद्धति को तप कहते हैं । उल्टे होकर लटकने, शरीर को पीड़ित करने, दुर्बल करने, सुखा डालने अथवा नष्ट कर देने का नाम तप नहीं है । गरमी-सरदी, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों को सहने और सभी अवस्थाओं में प्रसन्न-वदन बने रहने को भी तप कहते है । परोपकार को भी तप कहते हैं । सत्य-शीलता आदि व्रतों के पालन में आने वाली कठिनाईयों का दृढ़ता पूर्वक सामना करने को भी तप कहते हैं ।

९—देव किस को कहते हैं ? विशेष योग्यता-प्राप्त अनुभवी और प्रतिष्ठित विद्वान् को देव कहते हैं । देव नाम उच्च-सत्तारूढ़ राज्याधिकारियों का भी है । प्रकरणानुसार प्राकृतिक शक्तियों, विशेष पदार्थों और आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों का नाम भी देव होता है । जो दानशील हैं, उज्ज्वल-चरित्र

हैं, विद्यादि सद्गुणों से सुप्रकाशित हैं, जो दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं, जो दिव्य और महत्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं, उन को देव कहा जाता है। हार-जीत की चिन्ता से मुक्त उत्तम खिलाड़ियों और सैनिकों को भी देव कहते हैं। देव शब्द के अर्थ, स्वरूप और महत्व को न जान कर लोगों ने बहुत ठोकरें खाई हैं।

१०—मृत्यु किस को कहते हैं ? अच्छे अर्थों में तो आचार्य को भी मृत्यु कहते हैं, परन्तु यहाँ उस का विचार नहीं है। एक मृत्यु तो वह घटना है, जिस के घटित होने पर, पंचभौतिक-शरीर से आत्मा का वियोग हो जाता है, दूसरी मृत्यु वह भी है, जबकि मनुष्य अपने अन्तरात्मा के प्रतिकूल आचरण करता है। इसे लाक्षणिक रूप में आत्म-हत्या वा आत्म-हनन भी कहते हैं। तीसरी मृत्यु वह है, जो पाप-कर्मों में प्रवृत्ति और पापों को सहन करने की प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। इसका विचार-विस्तार बहुत है। विनाशक तत्त्वों, शक्तियों, प्रवृत्तियों आदि का ग्रहण, विचार और व्यवहार भी मृत्यु ही है। ब्रह्मचर्य का अभाव या विनाश भी मृत्यु है।

११—मृत्यु के कारणों को दूर करना ही मृत्यु को दूर करना, अथवा मृत्यु को पछाड़ना है। देव-कोटि के महापुरुष इस कार्य में दक्ष होते हैं। साधारण प्रकार को सफलतायें तो साधारण लोग भी प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी सफलताओं की भी महत्वपूर्ण समझना चाहिये ; परन्तु मौत से न डरना, पापों से और पापियों से समझौते न करना, पापों को सहन न करना, प्रलोभनों को ठुकराना और ऊंचे आदर्शों की सिद्धि के लिये अपने तन, मन और धन को सहर्ष न्योछावर कर देना, ये असाधारण सफलतायें हैं।

१२—इन्द्र किस को कहते हैं ? ईश्वर, सूर्य जीवात्मा राजा, नेता, सेनापति, आचार्य, विद्युत, जीवन, औषधि, धनवान् आदि इन्द्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। इनके उदाहरण वैदिक-साहित्य में भरे पड़े हैं। इन अर्थों का ग्रहण प्रकरणानुसार किया जाता है। प्रस्तुत-प्रसंग में ईश्वर, राजा, जीवात्मा, नेता, सेनापति आदि कई अर्थों का ग्रहण किया जा सकता है। यदि अर्थ बदल-बदल कर इस सन्दर्भ का मनन किया जाये, तो अपूर्व-बोध प्राप्त होता है। यहां वेद की प्रतिपादन-शैली का विचार भी कर्तव्य है।

१३—स्वः अथवा सुख किस को कहते हैं ? स्वतन्त्रता को सुख कहते हैं। परतन्त्रता का नाम दुःख प्रसिद्ध है। दार्शनिक भाषा में अनुकूल-वेदना को सुख और प्रतिकूल-वेदना को दुःख कहते हैं। इन लक्षणों के अनुसार ही यहां भी समझना चाहिये। स्वः नाम मोक्ष का भी है, और आनन्दस्वरूप परमेश्वर का भी। स्तुति, प्रार्थना और उपासना रूपी कर्म-समूह, जिस से मोक्ष और ईश्वर की प्राप्ति होती है, वह ब्रह्मचर्य ही तो है।

१४—शारीरिक-रोगों की निवृत्ति, मानसिक-क्लेशों की निवृत्ति, जातीय और राष्ट्रीय दुर्बलताओं एवं कुप्रथाओं की निवृत्ति, सब प्रकार की विभीषिकाओं की निवृत्ति आदि-आदि के मुख्य-साधन के रूप में ब्रह्मचर्य का विचार कीजिये। औषधियों की भी औषधि, उपायों का भी उपाय, नियमों का भी नियम, सुधारों का भी सुधार, यह ब्रह्मचर्य है। व्यक्ति को, जाति को, राष्ट्र को, प्रत्येक प्रकार की मृत्यु और अपमृत्यु से बचाने का एकमात्र उपाय ब्रह्मचर्य ही है।

१५—जब ब्रह्मचर्य अर्थात् सदाचार का पालन किया जाता है, तभी व्यक्ति में एवं समाज में स्वास्थ्य और दृढ़ता की वृद्धि होती है। स्वास्थ्य में बुद्धि और मन के स्वास्थ्य को भी ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार दृढ़ता में आदर्शवादिता का भी समावेश होता है। जब शरीर स्वस्थ और दृढ़ एवं विचार शुद्ध और परिपक्व होते हैं, तभी शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता है। और तभी भोग्य-पदार्थों के उपभोग का पूरा सुख भी मिलता है।

१६—इसी प्रकार जब राजा सदाचारी और सुदृढ़ अर्थात् पूर्ण स्वस्थ होता है, तभी प्रजावर्ग जितेन्द्रिय एवं कर्तव्य-परायण होता है। इसी हेतु से "राजा कालस्य कारणम्" की उक्ति प्रसिद्ध हुई है। जब उत्तम राजा होता है, तभी प्रजा को पूर्ण सुख प्राप्त होता है। श्रेष्ठ राजाओं में जो अधिक श्रेष्ठ हो, उसी को इन्द्र की पदवी प्राप्त होती है।

१७—उत्तम नियमों के अनुसार आचरण करने वाले साधकों और प्रजा-वर्गों को जो सुख होता है, उसे ईश्वर की व्यवस्था और कृपा का ही फल समझना चाहिये। व्यक्ति को, जाति को, और राष्ट्र को जब-जब और जो-जो

भी सुख प्राप्त होते हैं, वे सब ईश्वर की कृपा और व्यवस्था से ही तो प्राप्त होते हैं। परमेश्वर आनन्दस्वरूप है। अतः जहाँ-जहां और जितना भी आनन्द है, वह सब परमेश्वर का ही है। परमेश्वर से ही आनन्द की प्राप्ति सम्भव होती है, अन्यथा नहीं ? इस लिये महर्षियों ने ईश्वर को ही आस्तिक-जीवन का चरम-लक्ष्य स्थिर किया है और उसकी प्राप्ति पर सर्वाधिक बल दिया है।

१८—ईश्वरीय आनन्द की अनुभूतियों से अनुप्राणित होकर एक महात्मा ने गाया था :—

गांजा भंग अफीम मद, उतर जात प्रभात।
नाम-खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन-रात॥

---

२० ब्रह्मचारियों के उपकार—१

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

अथर्व० ११। ५। २०

शब्दार्थ :—(ओषधयः) ओषधियां, (भूतभव्यम्) भूतकाल, वर्तमान काल, और भविष्यकाल (अहोरात्रे) दिन और रात (वनस्पतिः) वृक्ष, लता, गुल्मादि, तथा (ऋतुभिः) सब ऋतुओं के (सह) साथ (संवत्सर) वर्ष (ते) वे ये सब के सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी से ही (जाताः) प्रगट हुए हैं।

भावार्थ :—ओषधियाँ, भूत, भविष्य और वर्तमान काल के इतिवृत्त, दिन और रात वनस्पतियाँ, वसन्त, निदाघ, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर छः ऋतुएँ तथा वर्ष ये सब ब्रह्मचारी से ही प्रगट होते हैं। अर्थात् ब्रह्मचारी ही विलक्षण और युक्तियुक्त रीति से इन सब का विचार, वर्गीकरण, तथा उपयोग

करता है। तभी ये विशेष रूप से प्रसिद्ध होते हैं। अथवा मानो ये सब भी ब्रह्मचारी ही हैं, क्योंकि ये सभी नियमों के अनुसार चलते हैं और संसार के लिये सुखकारी होते हैं।

प्रवचन

१—ज्ञान, कर्म और उपासना भेद से ज्ञान के तीन आधार-भूत संस्थान वा प्रस्थान हैं। इन तीनों के भी कई-कई शाखा-उपशाखा भेद हैं। ज्ञान का प्रत्येक भेद तथा उपभेद, कला की प्रत्येक शाखा और उपशाखा, विज्ञान का प्रत्येक अंग तथा अंश, यन्त्रों के नाना प्रकार के आविष्कार सिद्धान्तों के सभी निरूपण-प्रकार, पदार्थों के सभी वर्गीकरण, तथ्यों के सभी निर्णय, ये सब एक से एक बढ़कर महत्वपूर्ण भी हैं, और चमत्कार-पूर्ण भी। मानव-बुद्धि इन्हें देख-देख कर दंग रह जाती है। मानव-जीवन में सैकड़ों, सहस्रों प्रकार से इस उपलब्ध और संचित ज्ञान-का उपभोग हो रहा है।

२—चिकित्सा-शास्त्र पर ध्यान दीजिये। जड़ी-बूटियों का परिज्ञान, प्राकृतिक शक्तियों का अनुसन्धान, रोगों का निदान, शारीरिक रचनाओं का ज्ञान, औषधियों और विविध प्रकार की चिकित्सा-प्रणालियों का निर्माण आदि-आदि कैसे-कैसे महान् कार्य इस क्षेत्र में हो रहे हैं? ये सब खोज और अनुसन्धान आदि कौन करता है? वेद चिकित्सा-शास्त्र के प्रवर्तकों को, प्रचारकों, ज्ञाताओं, अनुसन्धाताओं और विवेचकों को ब्रह्मचारी की पदवी प्रदान करता है।

३—पुरातत्त्व, विज्ञान, इतिहास और समाज-शास्त्रों की मिली-जुली सहायता के आधार पर इस दृश्य-जगत् का विचार कीजिये। नगरों की स्थापना, राज-पथों का निर्माण, यातायात के शीघ्रगामी और अद्भुत शक्ति-शाली साधनों की व्यवस्था, घरेलू उपयोग के सहस्रों प्रकार के सामान, समाज-व्यवस्था के उत्तमोत्तम नियम, पशु-पक्षी-पालन और उन-उन से उपयोग प्राप्त करने के पृथक्-पृथक् प्रकार, ये सब महावीर ब्रह्मचारियों के ही तो आविष्कार अथवा सुव्यवस्थित व्यापार हैं। महापुरुषों द्वारा निदिष्ट काल को न मानने का परिणाम यही तो होगा कि सैकिण्ड, मिनट, घण्टे, दिन-रात पक्ष, मास, ऋतु

और वर्ष आदि की कल्पना तथा गणना भी न हो सकेगी। इस कल्पना एवं गणना के अभाव में तो सभ्यता की सारी ही इमारत धड़ाम से गिर जायेगी। इस कल्पना और गणना के अभाव में तो संसार के सारे ही काम गड़बड़ा जायेंगे।

४—वेद के एक प्रसिद्ध प्रसंग में काल के लिये अश्व शब्द का व्यवहार किया गया है। शब्द-शास्त्रियों ने बतलाया—कि आशु गच्छति-इति-अश्वः। जो बहुत शीघ्रता से चलता है, उसे अश्व कहते हैं। कवियों ने काल के इस शीघ्र-गमन का विचार करके बहुत सुन्दर-सुन्दर सूक्तियों का निर्माण किया है :—

सदा दौर दौरा दिखाता नहीं।
गया वक्त फिर हाथ आता नहीं॥

और—

गाफिल ! तुझे घड़ियाल यह देता है मुनादी।
इक घण्टा तेरी उम्र है अब और घटादी॥

एवमेव—

जो जाके न आये वह जवानी देखी।
जो आके न जाये, वह बुढ़ापा देखा॥

५—संसार में अनेक प्रकार के काल-मापक-यन्त्र बन चुके हैं। काल की सूक्ष्म-गणनाओं के आधार पर सुदूर-अतीत की खोज सम्भव है, सुदूर भविष्य के विषय में कुछ निश्चित् भविष्य-वाणियाँ भी की जा सकती हैं। तिथि, वार आदि के परिगणन-प्रकारों और उनके लाभों को सभी जानते हैं।

६—काल-चक्र का यह गम्भीर-विवेचन और निरूपण व्यावहारिक जगत् में काल-अश्व का उपयोग एवं काल-गणना की क्षण, पल, घड़ी, घण्टा, दिन आदि परिगणन-स्वरूप उपयोगिता और कल्पना का मर्म सर्वप्रथम ब्रह्मचारियों ने ही समझा था। वे ही काल-अश्व के यशस्वी सवार भी थे। काल-विज्ञान के रहस्यों को पूर्णतया ब्रह्मचारी-गण ही समझ पाते हैं। आज भी ब्रह्मचारी ही काल-अश्व पर आरोहण करते हैं। इसके विपरीत मूर्ख और प्रमादी लोग तो स्वयं ही काल के वाहन बन जाते हैं।

७—वनस्पति विज्ञान को लीजिये। फलों, फूलों, मेवों, पौदों, वृक्षों, लताओं, गुल्मों आदि का सम्पूर्ण विचार वनस्पति-विज्ञान के अन्तर्गत होता है। बीजों और खेती-बाड़ी के सम्पूर्ण कार्य भी वनस्पति-विज्ञान से सम्बन्धित हैं। धनागम, उपयोगिता, सुख-सुविधा, भोजन, रोग-निवारण जल-वायु संशोधन आदि की दृष्टि से भी वनस्पतियों का महत्व बहुत अधिक है। ब्रह्मचारी ही उस महत्व को ठीक-ठीक जानते हैं और वे ही इसे सबके हित के लिये प्रचारित भी करते हैं।

८—यहाँ एक बात बड़ी विलक्षण और विशेष ध्यान देने योग्य है। यह धरती-माता, जोकि अन्न और धन के आगार उगलती रहती है, यह कभी-कभी घास का एक तिनका भी देने से इन्कार कर देती है। जल, जोकि खेती-बाड़ी का बड़ा सहायक है, वह कभी-कभी दर्शन के लिये भी दुर्लभ हो जाता है। या कभी-कभी वह इतना प्रकुपित-सा हो जाता है कि खेतों को ही नहीं, नगरों को भी बहा कर ले जाता है। ऐसे विषम-प्रसंगों में वनस्पतियों का उत्पादन, और उनका सदुपयोग करके, जो मानवता का ही नहीं, प्राणी-जगत् का संरक्षण करते हैं, वे ब्रह्मचारी ही होते हैं।

९—प्रस्तुत-प्रसंग में वेद-मन्त्र का विचार एक दूसरे प्रकार से भी करना योग्य है। वह यह कि ओषधियां, भूत, वर्तमान और भविष्य, दिन-रात और वनस्पतियाँ एव ऋतुओं सहित संवत्सर, ये सब ही ब्रह्मचारी हैं। ओषधियाँ और वनस्पतियाँ अपनी जड़ों के द्वारा भूमि में से जल को ऊपर खींचती हैं। इस दृष्टि से वे भी ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी के समान ही हैं। ऊर्ध्वरेता होने से ही उन में रोगों के निवारण और संसार के पालन के विशेष गुण आ गये हैं।

१०—भूत, वर्तमान, भविष्य, दिन-रात, ऋतुएँ और संवत्सर, ये सब काल के ही विविध रूप अथवा काल्पनिक-खण्ड हैं। क्योंकि काल-चक्र का प्रवाह सदा ही नियमानुसार चलता है, कभी भी अपने नियमों का अतिक्रमण नहीं करता, इसलिये काल को भी ब्रह्मचारी कहते हैं। ये सभी ब्रह्मचारी लाक्षणिक रूप में ही ब्रह्मचारी कहे गये हैं और इनका उल्लेख चेतन प्राणियों के समान किया गया है। ये सभी उत्तम ब्रह्मचारियों के समान ही संसार का कल्याण करने वाले हैं।

११—इतिवृत्त, इत्यादि सब आ-आकर मानस-पटल पर अङ्कित हो जाते हैं। यह सब क्या है ? यही तो मानव-जाति का अतीत काल है। यही तो वह है, जिसकी सहायता से जातियों और राष्ट्रों के जीवन में सिंहावलोकन की क्रिया निष्पन्न होती है। भूतकाल के इन सब महान् कार्यों और इनसे सम्बन्धित ज्ञातव्य-तथ्यों के संरक्षण का सारा श्रेय ब्रह्मचारियों को ही है।

१२—भावी का निर्माण कौन करेगा ? भविष्य के लिये कार्यक्रम कौन बनायेगा ? उद्धार, उत्थान, उन्नति, सुधार, विकास, संरक्षण, उत्कर्ष और विजय की आशा किस से की जाये ? वेद नूतन-आशावाद का संचार करते हुए संसार को बतलाता है—ब्रह्मचारी। ब्रह्मचारियों पर ही भविष्य का भार है। ब्रह्मचारियों से ही कुछ करके दिखाने और कुछ बन के दिखाने की आशा की जा सकती है।

१३—भूतकाल की भूलों का परिमार्जन और प्रायश्चित भी भविष्य में ही होगा और वह ब्रह्मचारियों के हाथों से ही सम्पन्न होगा। वर्तमान तो क्षण-भंगुर है। जो एक क्षण पहले ही भविष्य था, वही इस क्षण में वर्तमान है और यह अगले ही क्षण में भूत होने वाला है। भूत और भविष्य के मध्य में वर्तमान का ग्रहण तो सदा ही होता है। भूतकाल की भूलों के रोने तो व्यर्थ हैं। भविष्य का उपयोग सतर्कतापूर्वक होना चाहिये। आने वाले समय के मूल्य और महत्त्व को समझना और उस का सदुपयोग करना विवेक-शीलता का परिचायक है।

१४—दिन और रात आते हैं, तथा चले जाते हैं। क्यों आते हैं ? और क्यों चले जाते हैं ? साधारण लोग इस रहस्य को नहीं जानते। परन्तु ब्रह्मचारी इसे भली प्रकार जानते हैं। कहते हैं—"समय दौलत है।" होगा। साधारण लोगों के पास समय बहुत है। समय को दौलत क्यों कहते हैं ? अथवा समय को दौलत के रूप में कैसे परिणत किया जाता है ? इसका साधारण लोगों को तो कुछ भी ज्ञान नहीं है।

१५—कोई समय को रोकर गुजार देता है, कोई लड़-झगड़ कर, कोई पापों में प्रवृत्त होकर। परन्तु ब्रह्मचारी तो ऐसा नहीं करते। वे अपने जीवन

के प्रत्येक क्षण के मूल्य और महत्त्व को भली प्रकार जानते हैं। अपने बुद्धि-कौशल तथा पुरुषार्थ के आधार, पर वे अपने समय का अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त करते हैं।

१६—काल-चक्र क्या है? काल-चक्र की प्रवर्त्तना क्यों होती है? काल-विचार भी एक जटिल-कार्य है। व्याकरण-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, शब्द-शास्त्र, ध्वनि-शास्त्र, और ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर काल के विषय में बहुत कुछ उल्लेखनीय हैं। वेदों के कई सन्दर्भों में काल के स्वरूप और महत्व का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप में किया गया है। अब, तब, कब, जब, पहले, पीछे, जल्दी और विलम्ब आदि शब्दों का व्यवहार जिस के लिये किया जाता है, उसे काल कहते हैं। प्रत्येक कार्य के होने में काल भी एक कारण होता है। दार्शनिक भाषा में इसकी गणना सामान्य-कारण में की जाती है। संख्या का हेतु भी काल ही है।

१७—कुछ दार्शनिक विद्वान् क्षणों के समूह को काल कहते हैं, कुछ कलाओं के समूह को। एक कला एक मिनट और छत्तीस सैकिण्ड की होती है। तात्विक-रूप में तो काल नित्य, एक, अखण्ड एवं आरम्भ और अन्त से रहित है; तथापि विद्वानों द्वारा काल का काल्पनिक विभाजन क्षण, पल, कला, सैकिंड, मिनट, घण्टा, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग और कल्प आदि-आदि के रूप में किया जाता है। मानव-व्यवहारों की सिद्धि और सुविधा के लिये ऐसा करना बहुत ही आवश्यक है, परन्तु काल के सूक्ष्म-विचार-प्रसंगों में यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी प्रकार के काल-विभाजन काल्पनिक हैं। उनके मान-निर्धारण और परिगणन में भूलों का होना भी सम्भव है।

१८—यदि कोई कुविचारक किसी कारणवश काल के अस्तित्व से इन्कार करे, तो करे। इससे काल का कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। किसी के न मानने पर भी काल का अस्तित्व तो रहता ही है।

२१ ब्रह्मचारियों के उपकार—२

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

अथर्व० ११ । ५ । २१

शब्दार्थ—(पार्थिवाः) पार्थिव-पदार्थ और पृथवी पर रहनेवाले सभी प्राणी (दिव्याः) सूक्ष्म-तत्त्व, और आकाश में विचरनेवाले सभी प्राणी (पशवः) देखने वाले पशु, पक्षी आदि (च) और (ये) जो (आरण्याः) जंगली हैं (चये) और जो (ग्राम्याः)नागरिक हैं (च) और (ये) जो (अपक्षाः) परों से रहित अथवा (पक्षिणः) परों से युक्त हैं, (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी से ही (जाताः) प्रगट हुए हैं । अथवा (ते) वे सब भी (जाताः) सुप्रसिद्ध (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी ही हैं ।

भावार्थ—स्थूल-संसार में तथा सूक्ष्म-जगत् में भी ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त अपना कार्य कर रहे हैं । पशु-पक्षियों और कीट-पतंग आदि के विषय में खोज एवं विचार करने से भी ब्रह्मचर्य की महिमा प्रगट होती है । नगरों, वनों और पर्वतों में निवास करने वालों, सभी के लिये ब्रह्मचर्य सिद्धान्त एक जैसे ही उपयोगी और आवश्यक हैं । सब प्रकार के प्राणियों का सम्यक् रूपेण विचार, वर्गीकरण, उपयोग और प्रशिक्षण ब्रह्मचारी ही कर सकते हैं ।

प्रवचन

१—पार्थिव—जगत् का विचार कीजिये । प्रकृति नटी नाना प्रकार के परिधान धारण करके रंग-मंच पर उपस्थित होती है, नाचती, गाती और थिरकती है । वह छिप जाती है और पुनरपि प्रगट हो जाती है । सनातन-काल से एक अद्भुत खेल-सा खेला जा रहा है । देखने वाले देखते हैं, और देखते ही रह जाते हैं । कोई रोता है, या हंसता है, क्या कहता है ? या क्या चाहता है ? इसका कुछ भी विचार इस निष्ठुर-नर्तकी को नहीं है ।

मिल गई मिट्टी में कैसी प्यारी-प्यारी सूरतें ?
खाक के पेयोंद कैसे-कैसे गुल-बूटे हुए ?
फिर रही है आज तक नजरों में शकल-ए-आशियां।
मुद्दते गुज़रीं चमन पर बिजलियाँ टूटे हुए॥

२—जब पदार्थ—विज्ञान की दृष्टि से हम पंच-भौतिक पदार्थों को देखते हैं, तब पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश के न्यूनाधिक सम्मिश्रण तथा सतो गुण, रजोगुण, और तमोगुण के न्यूनाधिक गुण-प्रभाव के आधार पर बने हुए पदार्थों का एक अनन्त ढ़ेर हमारे सामने एकत्रित हों जाता है। इतनी अधिक विविधतायें एक साथ ही सामने आती हैं कि मनुष्य घबरा-सा जाता है। यह सब क्या है ? यह सब क्यों है ? यह सब कब से है ? किस के लिये है ? और किस के लिये नहीं है ? ये और इसी प्रकार के और भी अनेक प्रश्न विचारकों के सामने आते हैं। इन सब का विचार और सम्यक्-समाधान ब्रह्मचारी ही करते हैं। साधारण जन तो इन के विषय में सोच भी नहीं सकते।

३—प्रकृति-निरीक्षण, पदार्थ-विवेचन, गुण-दोष-परीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण, सदुपयोग और अन्वेषण की विविध-प्रकार की प्रणालियां, ये ब्रह्मचर्य-पालन के विविध प्रकार के अनुष्ठान ही तो हैं। पार्थिव-जगत् का पूरा-पूरा विश्लेषण तो अभी तक भी हो नहीं सका है। जो कुछ अभी तक जाना जा सका है, उस की तुलना में बहुत अधिक जानना अभी भी शेष है।

४—पहिले अर्थात् प्राचीन-काल के ब्रह्मचारी अपना काम कर चुके। वर्तमान काल के ब्रह्मचारी यथाशक्ति अपना काम कर रहे हैं। जो काय शेष रहेगा, उसे भविष्य काल के ब्रह्मचारी पूर्ण करेंगे। ज्ञान के बहुत से रूप वा रहस्य प्रकाश में आ चुके हैं, और उन के द्वारा मानवता के मार्ग को प्रशस्त किया जा रहा है। आये दिन नये-नये रहस्यों का उद्घाटन होता रहता है। आगे भी नये-नये रहस्य प्रगट होते ही रहेंगे। बहुत कुछ जान लेने के बाद भी बहुत कुछ जानना शेष रहता ही है।

५—मूर्त्त-पदार्थों की स्थूल-कथायें छोड़ो। अमूर्त्त-पदार्थों का विचार करो।

वायु है, काल है, दिशा है, आकाश है, आत्मा है, परमात्मा है। ये सभी अमूर्त्त हैं। इन में से प्रत्येक के गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप को समझने के लिये गहरे सोच-विचार की और शुद्ध एवं परिपक्व ज्ञान की आवश्यकता है। इन मूर्त्त-पदार्थों से भिन्न और भी अनेक दिव्य-पदार्थ हैं। कोई बहुत दूर है। कोई बहुत अधिक रहस्यपूर्ण है। कोई अलौकिक-रूप से युक्त है। कोई अलौकिक रस से भरपूर है और कोई अलौकिक गन्ध, अलौकिक-ध्वनि और अलौकिक-स्पर्श वाला है।

६—दिव्यता का विस्तार और उस की परिभाषा भी तो एक महा-कठिन-कार्य है। यदि ब्रह्मचारी यह सब ऊहापोह न करें, तो फिर कौन माई का लाल है, जो इस सम्पूर्ण घर्षण, मर्षण और कठिन अन्वेषण में प्रवृत्त होगा। ज्ञान का जो विपुल-भण्डार आज मानव-जाति के पास है, और ज्ञान के प्रचार, संरक्षण तथा प्राप्त करने की जो-जो युक्तियां एवं प्रणालियां आज मानव-जाति को उपलब्ध हैं, वे सभी ब्रह्मचारियों के तप का फल ही तो है। कठिन को सरल, दुर्बोध को सुबोध और अगम्य को सुगम्य बनाने वाले ब्रह्मचारी ही तो होते हैं।

७—लोक-भाषा में चौपायों को पशु कहते हैं। पशुओं के भेद बहुत प्रकार के हैं। पशुओं के रूप, रंग स्वभाव, शरीर-रचना, गुण-दोष आदि के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। घी, दूध, आदि से सम्बन्धित सब बातों का विचार भी पशुओं के साथ ही कर्त्तव्य है। पशु-पालन एक कष्ट-साध्य कार्य है। पशुओं की प्रवृत्तियों, उनकी चिकित्सा और उनकी उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त करना तो मनुष्यों की प्रवृत्तियों आदि का ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा बहुत अधिक कठिन है। वे अपनी मूकता तथा बौद्धिक-दुर्बलता के कारण इस कार्य में कुछ भी सहयोग नहीं दे सकते। तथापि अपने ब्रह्मानुष्ठान द्वारा ब्रह्मचारी सभी बातों को जान चुके हैं और उन्होंने अपना वह सम्पूर्ण ज्ञान साधारण लोगों की झोपड़ियों तक भी प्रचारित कर दिया है।

८—लोक-प्रसिद्ध पशुओं से भिन्न भी कुछ पशु होते हैं। वे हमारे दिव्य-द्रष्टा, परीक्षक, समालोचक और क्रान्तदर्शी बन्धु हैं। दार्शनिक भी इन पशुओं में ही सम्मिलित हैं। पश्यति-इति-पशुः। देखने को तो सभी देखते हैं, परन्तु

ऐसे मनुष्य संसार में बहुत ही थोड़े हैं, जो वास्तव में देखना जानते हैं। जो देखने, परखने, जांचने और नजरों ही नजरों में तोलने या बोलने की कला में निपुण होते हैं, वे सभी दिव्य-मानव इस पशु-श्रेणी में आते हैं।

९—जंगली पशुओं, पौधों, पदार्थों, मनुष्यों, नियमों, मार्गों, प्रदेशों आदि-आदि का पहिले पृथक्-पृथक् और फिर सामूहिक रूप में विचार करो। जंगली और नागरिक पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों, पदार्थों, उपकरणों और उपभोगों की परस्पर तुलना करो। उस तुलना से बोध प्राप्त करो। और देखो प्राचीन ब्रह्मचारियों की स्थापनाओं से आपका किन विषयों में क्या भेद है? जंगली और ग्राम्य एवं नागरिक प्रवृत्तियों में सदा से ही कुछ मुख्य भेद चले आ रहे हैं। एकता में अनेकता का निवास है। अनेकता में एकता विद्यमान है।

१०—पशुओं आदि के समान ही पक्षियों का भी विचार कर्त्तव्य है। पक्ष-रहित जन्तुओं और कीटाणुओं आदि का विचार करो। इस विषय में भी ब्रह्मचारिगण बहुत खोज कर चुके हैं। उनकी वह खोज मानव-संस्कृति के महल की दीवारों को पुष्ट करनेवाली है। यदि प्राचीन ब्रह्मचारी अपने समय में इतने कार्य न कर जाते, और अनेक प्रकार के बने-बनाये उत्तम ज्ञान-मार्ग, प्रयोग-प्रकार, संविधान एवं संस्थान, पद्धतियां और प्रणालियां आदि हमें प्राप्त न होते, तो न जाने आज हमारी क्या गति होती?

११—हमें जो सुख और सुविधायें आज प्राप्त हैं, वे सब प्राचीन ब्रह्मचारियों की कृपा का प्रसाद ही तो है। उन पूर्वज ब्रह्मचारियों को हमारे बारम्बार प्रणाम। प्रभो! हमें अपने महान् पूर्वजों के अनुगमन की शक्ति प्रदान करो। हमें अपने उन महान् देवों और ऋषियों के तर्पण का, तथा उनके ऋण से अनृण होने का सामर्थ्य प्रदान करो।

१२—जिन्होंने नाना प्रकार के आविष्कार किये और विज्ञान के गुप्त-भेद खोज निकाले, एवमेव जिन्होंने उन-उन के शाखा-प्रशाखा भेद निर्धारित किये, लक्षण रचे, परिभाषायें स्थिर की, नियम बनाये, नये-नये और सूक्ष्मतम विचारों और भावों को ढूण्ढ निकाला, उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना की, और अपने तेजस्वी विद्या-बल, सूक्ष्म-दर्शन तथा पुष्ट और भ्रान्ति-रहित अनुभव के आधार

पर संसार के संचित ज्ञान-समुच्चय को परिमार्जित रूप में प्रचारित किया, वे सभी प्रसिद्ध ब्रह्मचारी थे, महामानव थे, श्रद्धेय महापुरुष थे। उनकी देन, जो अनेकविध रूपों में हमें प्राप्त हुई है, वह असाधारण है और साथ ही अति पवित्र भी।

१३—आओ, हम अपने आप को उनका सच्चा अधिकारी प्रमाणित करें। अपनी पात्रता का परिचय हमें अपने ब्रह्मचर्य-व्रत के सफल अनुष्ठान के रूप में ही प्रस्तुत करना चाहिये। ब्रह्मचारियों के उत्तराधिकारी भी ब्रह्मचारी हों, तभी पूर्वजों का मान है, तभी उत्तराधिकारियों की शान है। पुष्ट शरीर, शुद्ध विचार, गुण-ग्रहण में प्रीति, सब की भलाई में अपनी भलाई समझने की भावना और ईश्वर-भक्ति, ये सच्चे ब्रह्मचारियों के लक्षण हैं।

१४—वीर्य-रक्षा, नियमानुकूल आचरण और ऋतुकालाभिगमन का व्यवहार पशु-पक्षियों में भी वर्तमान है। यद्यपि बन्दर, कुत्ते और चिड़े बहुत अधिक कामी होते हैं, फिर भी सामूहिक रूप में पशु-पक्षिगण मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अधिक ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में आज-कल के स्त्री-पुरुष तो पशु-पक्षियों से भी बहुत पिछड़े हुए हैं। यदि कोई चाहे तो पशु-पक्षियों से भी बहुत कुछ सीख सकता है।

१५—स्थूल और सूक्ष्म-भेद, मानव और पाशविक-भेद, ग्रामीण और नागरिक-भेद, पक्षी, कीट-पतङ्ग, अपने तथा पराये के भेद-प्रभेद, एवमेव ब्रह्मचारी और अ-ब्रह्मचारी आदि भेदों में विभक्त संसार को देखना और समझना, बुद्धि-कौशल का काम है। यहाँ एकता में अनेकता के दर्शन होते हैं और अनेकता में एकता दिखाई देती है।

१६—ब्रह्मचारियों के तत्त्व-विचार, हस्त-लाघव, विषय-प्रतिपादन, निरूपण-शैली आदि के आधार पर सत्य अपने जाज्वल्यमान रूप में जग-मगा उठता है। अप्रगट, प्रगट हो जाता है, एक पीढ़ी का धन और ज्ञान-भण्डार दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होता रहता है। ऐश्वर्य के साथ-सुख के समुदाय में भी वृद्धि होती जाती है। सुख-सुविधाओं के नये-नये सूत्र भी जुड़ते चले जाते हैं। जिधर देखो, उधर ही लोक-कल्याण के अनेक-विध यज्ञों का अनुष्ठान हो

रहा है। इन सब की पृष्ठ-भूमियों में महान् ब्रह्मचारियों के तप, त्याग, बलिदान और उनकी सहृदयता की छाप स्पष्ट रूप में अंकित है।

१७—कभी-कभी ऐसा भी होता है, जब कोई स्वार्थान्ध व्यक्ति वा समुदाय असत्य को सत्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और जड़ को चेतन बताकर संसार में मिथ्यावाद का प्रचार करना आरम्भ कर देता है। परन्तु शीघ्र ही दैव-लीलाओं की प्रवर्तनायें आरम्भ हो जाती हैं। कोई माँ का लाल ब्रह्मचारी अपने ओज, तेज, प्रभाव और पुरुषार्थ के द्वारा सभी प्रकार के मिथ्यावादों का अन्त कर देता है। दूध का दूध और पानी का पानी हो जाता है। पापों की लङ्का भस्म हो जाती है।

सदाकत छिप नहीं सकती, बनावट के असूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से॥

---

२२ सर्वरक्षक-ब्रह्म

पृथक् सर्वे प्राजापत्या प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम॥

अथर्व० ११।५।२२

शब्दार्थ—(सर्वे) सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि (प्राजापत्याः) प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति परमेश्वर की सन्तान हैं। एवं (सर्वे) सभी पदार्थ (प्राजापत्या) प्रजापति परमेश्वर की रचनायें हैं। सभी (आत्मसु) अपने-अपने आत्माओं में, शरीरों में, आकारों में (प्राणान्) प्राणों को, जीवन को, नाम और रूप को (बिभ्रति) धारण करते हैं। (तान्) उन (सर्वान्) सबको (ब्रह्म) सर्वोपरि और सर्वज्ञ परमेश्वर सदाचार, नियम, विज्ञान, (रक्षति) सुरक्षित रखता है। वह ब्रह्म=ईश्वर, सदाचार, नियम, और ज्ञान जोकि

(ब्रह्मचारिणिम्) ब्रह्मचारी के जीवन में, शरीर में, व्यक्तित्व में, हृदय में, (आभृतम्) स्थिर है, दृढ़ है, सुप्रकाशित है।

भावार्थ —सभी प्राणधारी एक ही परमेश्वर की सन्तान है। एवमेव सब भौतिक-तत्त्व भी एक ही ईश्वर के आधीन हैं। इन सबका रक्षक भी वह एक ईश्वर, नियम, सदाचार और सर्वश्रेष्ठ बल है, जोकि ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। सब प्राणियों में और सभी पदार्थों में वह प्रभु और उसके उत्तम नियम सुप्रकाशित हो रहे हैं। वह ज्ञानस्वरूप तथा सर्वशक्तिमान् हैं। उसकी कृपा से ही ब्रह्मचारी गण ज्ञान, विज्ञान और बल को धारण करते हैं।

प्रवचन

१—पृथक्-पृथक् नाम और रूप को धारण करने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्षादि प्राणी हमारे सामने विद्यमान हैं। चन्द्र, सूर्य, तारागण आदि ग्रहोपग्रह हैं। फल, फूल, अनाज और मेवे हैं। दिशा, काल और मन हैं। पांच महाभूतों के विकार-स्वरूप अनन्त पदार्थ हैं। ये सभी अपनी-अपनी उपयोगिता के आधार पर अपना-अपना स्वतन्त्र स्थान और महत्व रखते हैं।

२—किसने इन सब की रचना की है? इन सब का स्रष्टा, रक्षक और व्यवस्थापक कौन हैं? किसकी कारीगरी इन सभी में झलक रही है? वेद का उत्तर एक ही है—ब्रह्म। स्मरण रहे—ब्रह्म इस सृष्टि का निमित्त कारण है। उसे उपादान-कारण समझने की भूल कोई न करे। सृष्टि की पहेली को समझने के लिये "त्रैतवाद" के सिद्धान्त को सदा ही सामने रखना चाहिये। ईश्वर ने, प्रकृति से, जीवों के लिये अपनी अटल और अखण्ड व्यवस्था के अनुसार इस सृष्टि की रचना की है।

३—ब्रह्म की व्यवस्था से ही ये सब प्राणी और पदार्थ प्रगट होते हैं। ब्रह्म की व्यवस्था से ही ये सुरक्षित रहते और अपने अस्तित्व को धारण करते हैं। और ब्रह्म की व्यवस्था से ही ये सब एक दिन अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्णता के साथ ही ह्रास अथवा क्षय का आरम्भ हो जाता है। क्षय के साथ ही कार्य अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। विलीन-तत्त्व फिर प्रभु की कृपा एवं व्यवस्था के अनुसार उत्पत्ति अथवा विकास का अनुक्रम ग्रहण करके प्रकाश में आते हैं।

४—कार्य, कारण और विकास एवं विलय का यह प्रवाह अनादिकाल से प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है। यह कार्य-जगत् केवल मात्र जड़-तत्त्वों के मेल का खेल ही नहीं है। एक चेतन, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वोपरि सत्ता इस सम्पूर्ण कार्य-कलाप की संचालक है। उस एक ही सर्वतोमहान् सत्ता का व्याख्यान विद्वान् अनेक प्रकार से करते हैं। उस एक ही सत्ता के गुण, कर्म और स्वभाव को सूचित करनेवाले नाम अनन्त हैं। "प्रजापति" और "ब्रह्म" दो नामों का उल्लेख प्रस्तुत-प्रसंग में प्राप्त है। इन दोनों नामों का विचार इन के व्यापक अर्थों में अर्थात् यौगिक-अर्थों में करना चाहिये। वैदिक शब्दों के मनन और अर्थ-विचार में रूढ़-शब्दों और रूढ़ीगत अर्थों का ग्रहण तो सदोष होने के कारण सदा ही त्याज्य है।

५—सब प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति की सन्तान है। इस नाते सभी में पारस्परिक समानता और भ्रातृ-भाव पाया जाता है। समानता और भ्रातृ-भाव के होने पर भी सब की परिस्थितियां, आकृतियां तथा मनोवृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। अनेक प्रकार की विभेदक एवं पृथक्ता-मूलक रेखायें उस महान् लीलाधर ने कुछ ऐसी चतुराई से खींची हैं कि देख-देख कर आश्चर्य होने लगता है। मूर्त्तिमान् पदार्थों को देखते हैं। सबके रूप न्यारे-न्यारे हैं। एक ही जाति में भी आकृति-भेद और स्वभाव-भेद वर्तमान हैं। वह जाति चेतन प्राणियों को हो, वा जड़-पदार्थों की। अभेद में भेद, और भेद में अभेद की विद्यमानता का विचार जब किया जाता है, तब विचारक अनन्त की असीम गहराइयों में खोया-सा जाता है।

६—मनस्-तत्त्व का विचार किया। उसमें भी भेद और अभेद की विलक्षणतायें मौजूद हैं। आत्म-तत्त्व का विचार किया। उसमें भी भेद और अभेद हैं। आत्मा अनन्त हैं। सभी अणु हैं। अणु होने पर भी उन सभी में ईश्वर, व्यापक है। वे सभी कर्म-भोग-चक्र में घूमते रहते हैं। प्रत्येक शरीर में एक-एक आत्मा का निवास है, जोकि उस शरीर का अभिमानी आत्मा कहलाता है। किसी शरीर में अनुशेयी आत्मा तो कई हो सकते हैं—जैसे पेट के कीडों के, या नाना प्रकार के कीटाणुओं के आत्मा।

७—प्रत्येक शरीर का अधिष्ठाता या अभिमानी आत्मा तो एक ही होता है। जातीय समानताओं के होने पर भी आत्माओं में संस्कार और वासनाओं के भेद पाये जाते हैं। ये संस्कार-भेद और वासना-भेद ही उनकी विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों, योनियों अवस्थाओं और अनुभूतियों के उत्पादक होते हैं। जड-तत्वों का सूक्ष्म-विश्लेषण किया। उनमें भी अभेदक और विभेदक-विलक्षणतायें पाई जाती हैं। समन्वय और संतुलन के ये नियम सुन्दर-सुन्दर एवं अत्यन्त मनोहर हैं।

८—प्राण क्या है? जीवन के प्रधान लक्षण को प्राण कहते हैं। उपयोगिता के तत्त्व को प्राण कहते हैं। अलक्षित लक्षण को प्राण कहते हैं। जीवन-माधुरी को प्राण कहते हैं। प्राण कभी साध्य होता है, कभी साधन। आर्य महर्षियों ने प्राण-तत्त्व का विचार और सेवन सदा ही सूक्ष्म-रूप में तत्परता ले साथ किया है। संसार का धारक-तत्व भी शास्त्रीय-भाषा में प्राण कहलाता है।

९—इन सब विविधताओं का, भेद में अभेद, और अभेद में भेद का, प्राण-तत्व का स्रष्टा कौन है? यह प्रश्न कई प्रकार से उठता रहता है और मानव-मस्तिष्क को बारम्बार आन्दोलित किया करता है। वेद ने इस सनातन-प्रश्न का समाधान कर रखा है। वह यह कि ब्रह्म ही इन सब का प्राण, रक्षक और स्रष्टा है। संसार का हित इसी में है कि सत्य का पुनरावर्तन बारम्बार होता रहे। इस पुनरावर्तन की आवश्यकता तब तक है, जब तक कि मानवता उसको पूर्णतया ग्रहण न कर ले।

१०—वैदिक 'ब्रह्म" शब्द का मनन प्रत्येक मनुष्य को भली प्रकार करना चाहिये। वेदों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है, जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है। आत्मा, परमात्मा, वेद, सत्य, यज्ञ, संयम, धर्म, सदाचार, सृष्टि-नियम आदि एक ही "ब्रह्म" शब्द के कई अर्थ प्रसंगानुसार होते हैं। बड़ाई, श्रेष्ठता, और पवित्रता के भाव भी "ब्रह्म" शब्द में निहित हैं। जो ब्रह्म का विचार करे, एवमेव जो ब्रह्म में विचरे, वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी के आचरण को ही अर्थात् उसके मानसिक,

वाचनिक और कायिक कार्य-समूह को, "ब्रह्मचर्य" कहते हैं। उत्तम जीवन-चर्या और वीर्य-रक्षा के अर्थों में तो ब्रह्मचय लोक-प्रसिद्ध है ही, परन्तु इलके प्रधान अर्थ तो ईश्वर-भक्ति, वेदाध्ययन और सदाचार ही है।

११—यदि कोई ब्रह्म-दर्शन का इच्छुक है, तो वह पहिले किसी ब्रह्मचारी से मिले। ब्रह्मचारी सच्चा ब्रह्मचारी हो, नाम मात्र के ब्रह्मचारी से काम नहीं सरेगा। ब्रह्मचारी की चाल में जो मस्ती है, वह मस्ती ब्रह्म की ही तो है। उसके व्यक्तित्व में जो आकर्षण है। वह ब्रह्म का ही तो आकर्षण है। ब्रह्मचारी के मुख-मण्डल पर जो कान्ति, दीप्ति, लावण्य, स्निग्धता, ओज, तेज, प्रभाव, माधुर्य और पवित्र भाव दिखाई देता है, वह सब ब्रह्म का ही तो है। ब्रह्मचारी के जीवन में जो सत्य-शीलता, सरलता और सुन्दरता है, वह सब ब्रह्म की ही तो बिभूति है।

१२—हम यूं भी कह सकते हैं कि ब्रह्म, ब्रह्मचारी में, उस के रोम-रोम में समा रहा है, झांक रहा है, दृष्टि-गोचर होरहा है। हम यूं भी कह सकते हैं कि ब्रह्म की उपासना करते-करते स्वयं ब्रह्मचारी भी ब्रह्म भूत हो गया है, मूर्त्त ब्रह्म बन गया है। आज-कल के सुप्रसिद्ध और अत्यन्त भ्रामक शब्द "ब्राह्मण" का जन्म इसी अर्थ में हुआ था। जब ब्राह्मण नाम मात्र के ब्राह्मण होने लगे, तब इसका गौरव घट गया। उन्नति का प्रत्येक मार्ग, ब्रह्मचर्य का मार्ग है। ज्ञानी सदाचारी, पुरुषार्थी, आस्तिक और ब्रह्मचारी इन शब्दों का मौलिक रूप और अर्थ एक-सा ही है।

१३—ब्रह्मचारी के जीवन में जिस "ब्रह्म" की प्रतिष्ठा है, वही सबका रक्षक है। इस सूत्र का कुछ अधिक विचार कीजिये। ब्रह्मचारी का ब्रह्म ज्ञान और कर्म का सन्तुलित रूप है। जो ज्ञानी तो है, परन्तु कर्म योग से परांगमुख है, ऐसा एकांगी-व्यक्ति संसार का कुछ भी हित नहीं कर सकता। ऐसे लोगों से तो संसार का अहित ही होता है। क्योंकि उनका अकर्मण्यता रूपी सक्रामक रोग संसार के साधारण लोगों को भी ग्रस लेता है।

१४—वे कर्मयोगी भी संसार का कुछ हित नहीं कर सकते, जो न तो अपने लक्ष्य को जानते हैं, न ही लक्ष्य-प्राप्ति के स्वरूप को, न अपने आप को

और न शक्ति को। केवल ज्ञानी तो लंगड़े के समान है और केवल कर्मयोगी अन्धे के तुल्य। जब ज्ञान और कर्म दोनों का ही सन्तुलित विकास और अनुष्ठान किसी के जीवन में होता है, तभी वह अपना और दूसरों का हित करने में समर्थ होता है। ज्ञान और कर्म दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का सहचार अत्यन्त वांछनीय है। फिर भी लोग अपने व्यावहारिक जीवन के इस तत्व को भूल जाते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

१५—ज्ञान के प्रचारक भी ब्रह्मचारी है, अधिकारी भी। दुष्टों, नास्तिकों छली, कपटी, लोभी और लम्पट लोगों का अधिकार इस क्षेत्र में नहीं है। यहाँ ज्ञान का अर्थ है, वह परिपक्व और सन्देह-रहित अनुभव-सिद्ध ज्ञान, जो कि उच्च-योग्यता प्राप्त, सात्विक विद्वानों का ही अधिकार है। यदि कभी किसी की असावधानता के कारण यह विशेष, रहस्यपूर्ण और गुप्त, ज्ञान किसी दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है, तो इसका परिणाम संसार की हानि ही होता है। दुष्ट लोग उस ज्ञान के आधार पर नाना प्रकार के ढोंग रचने लगते हैं और संसार में भारी अशान्ति और आपा-धापी मचा देते हैं।

१६—सांसारिक उदाहरणों से यह तथ्य भली प्रकार पुष्ट होता है कि साधारण दुष्टों की अपेक्षा साक्षर दुष्टों ने ही संसार में अधिक अशान्ति फैलाई है। जैसे बालक के हाथ में तलवार का आना बालक के लिये भी घातक है, और दूसरों के लिये भी, वैसे ही दुष्टों के पास जाकर ज्ञान भी घातक बन जाता है। ऐसी अवस्थाओं में ज्ञान का श्रेष्ठ-प्रवाह भी अपने आप ही उलटा हो जाता है। साक्षर दुष्ट को ही तो संसार में राक्षस कहा जाता है। ध्यान रहे ज्ञान के द्वारा दुष्टों के सुधार का निषेध यहाँ अथवा वेदों और अन्य उत्तम ग्रन्थों में नहीं है। ज्ञान के अनुसार आचरण हो और वह आचरण यम-नियम आदि साधनों के द्वारा पवित्रता तथा पात्रता को प्राप्त करके किया जाये।

२३ ब्रह्मचर्य-व्रत

देवानामेतत् परिषूतमनभ्या—
रूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥

अथर्व० ११ । ५ । २३

शब्दार्थ :—(एतत्) यह ब्रह्मचर्य का व्रत (देवानाम्) विद्वानों का (परिसूतम्) एक उत्तम विचार आदर्श, आविष्कार है। यह (अन्+अभि+आ+रूढ़म्) अज्ञानियों की पहुँच से परे है अर्थात् विचार-शून्य लोग इस व्रत का पालन नहीं कर सकते। जो इस व्रत का पालन करता है, वह (रोचमानम्) चमकता हुआ (चरति) ससार में विचरता है। (तस्मात्) उस इस ब्रह्मचर्य व्रत के परिपालन और प्रभाव से ही (ब्राह्मणम्) वेद और ईश्वर के ज्ञाता विद्वान्, (ज्येष्ठ ब्रह्म) सर्वोपरि ज्ञान-कोष वेद, (च) और (अमृतेन साकम्) अमृत सहित (सर्वे देवा:) सब देव, विद्वान्, इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत, तैंतीस देव (जातम्) उत्पन्न हुए हैं।

भावार्थ :—यह ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त जीवन को उत्तम बनाने वाला एक श्रेष्ठ व्रत है। साधारण प्रकार के अर्थात् दुर्बल-प्रकृति के, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अहंकार में फंसे हुए लोग इसका पालन नहीं कर सकते। इस का पालन करने के लिये सुदृढ़-मनोबल तथा विद्या और विवेक की आवश्यकता है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, वह सब प्रकार की सफलताओं को प्राप्त करके संसार में सुखी रहता है। ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा ही मनुष्य ईश्वर-बोध प्राप्त कर सकता है और वेद के रहस्यों को जान सकता है। जो लोग बड़े-बड़े काम करते हैं, और जिनकी कीर्ति संसार में चिर-स्थायी होती है, वे सब ब्रह्मचारी ही होते हैं।

प्रवचन

१—जिन को उन्नति की अभिलाषा है, वे पहले अपना कोई लक्ष्य निर्धारित करें। विधिपूर्वक व्रत ग्रहण करें और तत्पश्चात् अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य को उस व्रत की पूर्ति के लिये समर्पित कर दें। व्रत की सिद्धि में बाधक होने वाले किसी भी विचार, सम्बन्ध, तत्व, विकार, प्रभाव अथवा सम्पर्क से कभी भूलकर भी किसी प्रकार का समझौता न करें। व्रत-ग्रहण-प्रसंग में सभी व्रतीजन यह भी भली प्रकार जान लें कि यद्यपि विभिन्न व्रतों अथवा आदर्शों के प्रारम्भिक-स्वरूप में अनेकविध भेद दृष्टिगोचर होते हैं; परन्तु उनके परिणामों में कोई मौलिक-भेद नहीं है। भलाई का फल भला ही होता है।

२—ब्रह्मचर्य-व्रत एक उत्तम व्रत वा आदर्श भी है, और एक उत्तम जीवन-पद्धति भी। मानव को उत्कर्ष की ओर प्रेरित करने वाले प्रायः सभी विचारों, भावों, व्रतों, आदर्शों, नियमों और प्रकारों का समावेश एक 'ब्रह्मचर्य" शब्द में हो जाता है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन सरल है, या कठिन है ? सरल भी है, और कठिन भी।

३—जो महत्वाकांक्षी, सत्य-प्रिय, सात्विक-भावापन्न लोग होते हैं, उनके लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान बहुत ही सरल है। वे ज्यों-ज्यों इस व्रत का पालन करते जाते हैं, त्यों-त्यों ही वे अधिक दृढ़ भूमिकाओं में प्रविष्ट होते चले जाते हैं और उनको बहुत अधिक सुविधा होने लगती है। अभ्यास के परिपक्व होने पर, जब वे अपने अभ्यास की उच्चतर भूमिकाओं में प्रवेश करते हैं, तब उनके सामने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर भी ब्रह्मचर्यवाद का अनुराग जाग उठता है।

४—जो लोग अविद्यादि दोषों से युक्त हैं, तमोगुणी हैं, जिनके जीवन में कुटिलता का प्राबल्य है और महत्वाकांक्षा जिनके हृदय में वर्तमान नहीं है, उन के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन बहुत कठिन है। यद्यपि कभी-कभी ऐसे लोग भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देखने में आते हैं, परन्तु वह सब प्रायः ढोंग ही होता है।

५—ढंग में और ढोंग में बाह्यरूप से कोई विशेष अन्तर नहीं होता,

परन्तु वास्तविक और तात्विक रूप में तो आकाश-पाताल का अन्तर होता है। ढंग का अभिप्राय: है—आत्मोन्नति, कर्तव्य-पालन, यमों और नियमों का अभ्यास और सर्वहित। ढोंग का अर्थ है—आत्म-पतन, धोखा, दम्भ, पाप, प्रवंचना, पर—पीड़न, स्वार्थ-सिद्धि और लोक-दिखावा। ढंग ही विधेय है। ढोंग तो पाप, अपराध तथा त्याज्य है।

६—उत्तम आदर्शों का उपहास तथा उनके प्रति गम्भीरता का परित्याग कोई भूलकर भी न करे। ऐसा करने से एक तो कर्त्ता की अप्रतिष्ठा का भय है, दूसरे गुण-ग्रहण में अप्रीति के होने से कर्त्ता के भारी पतन की भी आशंका है। ऐसा करने से कर्ता का स्वभाव भी बिगड़ जाता है। फिर उसका सुधार बहुत ही कठिन हो जाता है। उसको अनुशासन भंग करने तथा बिना पुरुषार्थ के और बिना पात्रता प्राप्त किये ही, कार्य-सिद्धि या फलोपभोग की चाट-सी लग जाती है। दूसरों को छलने के लिये ही ब्रह्मचर्य का दिखावा करना तो नैतिक-पतन और सामाजिक अपराध प्रत्यक्ष ही है।

७—ढोंगी जनों का कोई ऊंचा वा आध्यात्मिक आदर्श तो होता ही नहीं। बस वे तो ऊँचे-ऊँचे आदर्शों, बड़े-बड़े प्रपंचों और प्रदर्शनों की आड़ में अपने नीच-स्वार्थों, तुच्छ-वासनाओं, हीन-भावों और घृणित मनोविकारों को ही पुष्ट और तुष्ट किया करते हैं। ढोंगियों पर कवि ने कैसा तीखा व्यंग कैसा हैं? देखिये :—

गीता पुस्तक हाथ, साथ विधवा, माला विशाला गले,
गोपी चन्दन र्चचितं सुललितं, भाले च वक्षास्थले।
वैरागी नटवा कलाल, पटवा, धोबी धुना, धीवरा:,
हा! वैराग्य कुतो गत: ? कलियुगे गुण्डा: परं वैष्णवा: ॥

८—उत्तम आदर्श, व्रत और सिद्धान्त पुस्तकों में लिखने, वाणी से कहने, कानों से सुनने या मंतव्य-मात्र बनाकर रखने के लिये ही नहीं होते। उनका तो पूर्ण सामर्थ्य और संलग्नता एवं विधि-विधान सहित आचरण करना होता है। क्रियात्मक रूप में आचरण का विषय बनकर ही उत्तम व्रत और आदर्श सफल होते हैं, अर्थात् मनुष्य का हित-साधन किया करते हैं। यदि कोई व्रत

आदर्श वा सिद्धान्त यत्न करने पर भी सज्जनों के अनुष्ठान का विषय नहीं बन सकता, तब तो उसे अव्यावहारिक ही समझना चाहिये। यह भी बड़ा दोष है। जो बातें कहने में आयें, सुनने में अच्छी लगें, परन्तु उनके अनुसार प्रयत्न करनें पर भी आचरण न हो सके, उनको तो मानसिक-विलास- ही समझें।

९—आरम्भ से अब तक संसार में जो महान् विद्वान्. ऋषि-मुनि-महात्मा, आचार्य, आविष्कारक, प्रचारक, नेता, प्रवर्त्तक आदि हो चुके हैं, अब भी हैं और आगे भी होंगे, वे सब ब्रह्मचारी ही थे, हैं, और होंगे। ब्रह्मचारी ही संसार में बड़े-बड़े काम करते हैं और कर सकते हैं। ब्रह्मचारी ही पथ-प्रदीपवत् मानवता के पथ-प्रदर्शक होते हैं।

१०—विविध प्रकार के ग्रन्थों के रूप में एवमेव संसार में प्रचलित लोक-व्यवहारों के रूप में, जो श्रेष्ठ ज्ञान संसार में है, वह सब ब्रह्मचारियों की ही देन है। उसका विचार, अनुष्ठान और संरक्षण भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य-निष्ठ जनों को ही ब्राह्मण कहते हैं। जो आस्तिकता, वेद-पाठ और शुद्धाचरण से युक्त नहीं हैं, वे तो तीन काल में भी ब्राह्मण नहीं हो सकते। यदि कोई ब्रह्मचर्य के प्रतिकूल आचरण करने वालों को भी ब्राह्मण या ब्रह्मचारी कहे, तो इसे ब्रह्मचर्य-धर्म का व्याघात और समय का दुरुपयोग ही समझना चाहिये। काठ का हाथी तो एक खिलौना ही है, वास्तविक हाथी का स्थान और महत्व उसे नहीं मिल सकता।

११—ज्ञान के सर्वोपरि, शुद्ध और निर्भ्रान्त रूप को ब्रह्म-ज्येष्ठ कहते हैं। ब्रह्म-ज्येष्ठ और ज्येष्ठ-ब्रह्म एक ही बात है। निर्भ्रान्त और ज्ञान-स्वरूप होने से ईश्वर का नाम भी ब्रह्म-ज्येष्ठ है। निर्भ्रान्त और स्वतःप्रमाण होने से वेद को भी ब्रह्म-ज्येष्ठ कहते हैं। ईश्वर और वेद दोनों का ही ग्रहण इस एक ही पद से होता है। यह ब्रह्म-ज्येष्ठ ही तो ब्राह्मणों और ब्रह्मचारियों का जीवन-सर्वस्व है।

१२—महान पुरुषों के जीवन-वृत्त पढ़ने और उनको कसौटी पर कसने से भी यही तथ्य पुष्ट होता है कि ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा विधान है, जिसका प्रति-पलन करने से मानवता का चरम-लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। ब्रह्मचर्य से ही

आत्म-दर्शन की सिद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य से ही प्रभु-दर्शन की सफलता मिलती है। ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद से त्रिविध तापों की अत्यन्त-निवृत्ति भी एकमात्र ब्रह्मचर्य के प्रतिपालन से ही सम्भव है। ब्रह्मचारियों का प्रिय गीत है :—

हे आनन्द-धन ! चहुँ ओर,
सुख की वर्षा करो।
व्रतपति ! व्रत हम ब्रह्मचर्य का,
पाल सकें सुकठोर ॥
सुख की वर्षा करो।

१३—उत्तम व्रतों की पूर्ति और उत्तम आदर्शों की प्राप्ति का उचित प्रकार यही हैं कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से काम ले, हीन-भावनाओं का परित्याग करे, और हीन-उपायों से काम न ले। ईश्वर से सहायता की याचना भी पुरुषार्थ-पूर्वक ही करनी चाहिये। जब कभी भी किसी व्यक्ति को कोई सफलता प्राप्त होती है, तब उसमें ईश्वर की कृपा का समावेश भी अवश्य ही होता है। सफलता तो मिलती ही तब है, जब ईश्वर की कृपा होती है।

१४—परन्तु ईश्वरीय-सहायता की प्रतीक्षा में कोई हाथ पर हाथ रखकर बैठा न रहे। ईश्वर भी उसी की सहायता करता है, जो अपने आप भी अपनी सहायता करता है। यह एक सुनिश्चित आध्यात्मिक-सिद्धान्त है। पुरुषार्थ ही मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र है और आलस्य ही उसका सबसे बड़ा शत्रु है।

१५—सभ्य-समाज में सम्मान-जनक स्थान की प्राप्ति का उपाय भी ब्रह्मचर्य ही है। सभ्यता क्या है ? संयम और इन्द्रिय-दमन को ही तो सभ्यता कहते हैं। वे लोग या तो भोले हैं, अथवा बहुत धूर्त हैं, जो कामोत्तेजक, वीर्य-नाशक, भोग-विलासपूर्ण, राग-द्वेषकारक, अकर्मण्यता-वर्धक, शृङ्गारिक, साधनों, उपकरणों, प्रथाओं, रूढ़ियों और प्रवृत्तियों को ही सभ्यता माने बैठे हैं। निर्लज्जतापूर्ण व्यवहारों को सभ्यता की संज्ञा देना तो घोर असभ्यता है।

१६—आज-कल सभ्यता की दुहाई प्रायः सर्वत्र ही सुनाई देती है, परन्तु

विद्वानों ने विचार करके प्रगट किया है कि—सभ्यता के नाम पर जिस रूढ़ीवाद और भारी व्यय-साध्य रीति-नीति को प्रचलित करने के आयोजन आजकल हो रहे हैं, वे सभ्यता नहीं हैं, वे तो सभ्यता के अभिशाप ही हैं। ब्रह्मचर्य से शून्य सभ्यता तो सभ्यता हो ही नहीं सकती। त्यागपूर्ण भोग सभ्यता है। अमर्यादित भोगवाद असभ्यता है। इसे कोई राक्षसों की सभ्यता कहना चाहे तो कहे।

१७—जो लोग ब्रह्मचर्य-व्रत का सांगोपांग पालन करते हैं, सिद्धावस्था में पहुँचकर, वे सभी "देव" पदवी के अधिकारी होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उनके जीवन में सरलता, सात्विकता, शक्तिमत्ता, निपुणता और दिव्यता का प्रकाश एवं विकास विशेष रूप से होता है। यह महान् विभूति जिसको मिल गई, उसे और क्या चाहिये ? यही तो वह अमृत है, जिसकी कामना प्रत्येक ब्रह्मचर्य-साधक सदा से करता आया है और सदा ही करता रहेगा। अमृत की प्राप्ति तो केवल देवों का ही अधिकार है।

---

२४ ब्रह्मचर्य की विभूतियां

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति,
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं,
वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥

अथर्व० ११। ५। २४

शब्दार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (भ्राजत्) चमकते हुए निर्मल (ब्रह्म) ज्ञान को (विभर्ति) धारण करता है। (विश्वे देवाः) सब विद्वान्, माता, पिता,

आचार्य आदि (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी के विषय में (अधि-समोता:) अपना अपना अधिकार, प्रेम और विश्वास रखते हैं। वह ब्रह्मचारी (प्राणापानौ) प्राण और अपान (व्यानम्) व्यान (वाचम्) वाणी, विद्या (मनः) मन=मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (हृदयम्) हृदय, सहृदयता, सवेदन-शीलता और (ब्रह्म मेधाम्) सात्विक बुद्धि को, आस्तिक विचार को, सदाचार को [जनयन्] उत्पन्न करता हुआ, प्रकाशित तथा प्रचारित करता हुआ (आत्) विचरता है, सांसारिक और पारलौकिक ऐश्वर्य का उपभोग करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारियों का ज्ञान भ्रान्ति-जाल से रहित होता है। माता पिता और आचार्य आदि सभी अभिभावकगण ब्रह्मचारियों से स्नेह करते हैं, तथा उनके ज्ञान, विवेक, क्षमता, बल और पुरुषार्थ पर विश्वास रखते हुए उनसे बड़ी-बड़ी आशायें रखते हैं। वे ब्रह्मचारी विधिपूर्वक प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पांच महाप्राणों तथा नाग, कूर्म, क्रिकल, देवदत्त और धनंजय पाँच उपप्राणों को एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को, सहृदयता को, वेद और ईश्वर विश्वास को, धारण करते हैं। सभी उच्च भाव, विचार और आदर्श ब्रह्मचारियों के जीवन में पूर्ण विकास को प्राप्त करते हैं।

प्रवचन

१—हमने ऐसे बच्चे देखे हैं, जो बहुत ही उलझे हुए होते हैं। उलझे हुए से हमारा अभिप्राय उन बच्चों से है, जोकि दिमागी तौर पर कमजोर होते हैं, ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता भी उनमें बहुत ही कम होती है। भय, शंका, और लज्जा की विभीषिकाओं से वे बुरी तरह संत्रस्त रहते हैं। किसी-किसी में तो ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति पशुओं से भी कम होती है। अध्ययन और विचार के आधार पर उलझे हुए बच्चों के कई वर्ग कल्पित किये जा सकते हैं।

२—बच्चों के समान ही उलझे हुए युवक, प्रौढ़, और वृद्ध स्त्री, पुरुष भी हमने देखे हैं। हम उनको उलझे हुए इसलिये कहते हैं कि वे पागल तो होते ही नहीं हैं; परन्तु बुद्धिमान् भी हम उनको नहीं कह सकते। दूसरे शब्दों में यूं कहें कि वे सुलझे हुए भी नहीं होते।

३—वे एक ही साथ कई प्रकार से सोचते हैं। वे परस्पर-विरोधी बातें

बोलते हैं। यत्न करने पर भी यह ज्ञात नहीं होता कि वे क्या कह रहे हैं? या क्या चाहते हैं? उनकी दिमागी-उलझनें इतनी अधिक होती हैं कि वे न तो स्पष्ट रूप में किसी को अपनी बात समझा सकते हैं, और न ही किसी दूसरे की बात को समझ सकते हैं।

४—लोक-भाषा में जिन को 'वहमी' "सनकी" तथा "शक्की" कहा जाता है, वे भी कुछ-कुछ उलझे हुए से ही होते हैं। उलझे हुए लोगों के लिये कोई दूसरा उचित शब्द हमें इस समय सूझ नहीं रहा है।

५—ज्ञान की वह अवस्था लाभदायक होती है, जोकि तर्क-संगत, सन्तुलित, और सब प्रकार से सन्देह-रहित हो। सनकी, वहमी, कुसंस्कार-ग्रस्त, और अविकसित मस्तिष्कवाले लोग पहले तो अपने अधूरे कच्चे, भ्रान्त और हेत्वाभासों तथा अन्धविश्वासों पर आश्रित ज्ञान के आधार पर कुछ सदोष-मन्तव्य स्थिर कर लेते हैं, और फिर लाठी, डण्डे, तोप, तलवार, धींगा-मुश्ती आदि के द्वारा, अथवा सिर और हाथ गिन-गिनकर, अपने तथाकथित लोक-तन्त्रवाद और बहुमत के आधार पर, अपने कच्चे, सदोष एवं थोथे मन्तव्यों को फैलाना शुरू कर देते हैं। यदि कभी कोई उन के विरुद्ध अपना तर्क उपस्थित करे, तो कानून बनाकर, डर दिखा कर, प्रस्ताव पारित करके, येन-केन प्रकारेण उसके मुंह पर ताला लगा देते हैं। ये तथाकथित बहुमतवादी इतने अधिक दुराग्रही और असहिष्णु होते हैं, कि विचार-भेद होने पर वे घोर शत्रुता ठान लेते हैं।

६—संसार में जो गम्भीर परिस्थितियां वारम्वार उत्पन्न होती रहती हैं, युद्ध होते हैं, अशान्ति बढ़ती है, मतों, पंथों, दलों और सम्प्रदायों के पारस्परिक विवाद और कटुता के दृश्य देखने में आते हैं, उनका मुख्य कारज ये कच्चे दिमाग, भ्रान्त-विचार और थोथे मन्तव्यों वाले लोग ही होते हैं। यद्यपि मूर्खता मानवता के लिये एक बहुत बड़ा अभिशाप है, फिर भी उसे किसी न किसी प्रकार सहन किया जा सकता है। परन्तु यह स्वयं उलझे हुए और दूसरों को उलझाने वाले लोगों की समस्या तो मूर्खों की समस्या से सर्वथा ही भिन्न प्रकार की है। इस को तो सहन करना भी कठिन है, और सुधारना भी।

उलझे हुए लोगों द्वारा फैलाये गये वितण्डावादों के कुप्रभावों से बचना भी बहुत कठिन है।

७—ज्ञान का चमकदार होना भी आवश्यक है? परन्तु केवल मात्र चमकदार होने से ही कोई बात उपयोगी, अथवा ज्ञान नहीं मानी जा सकती। प्रायः ऐसा भी होता है कि चमक-दमक के परदे में कमजोरियों को छिपाया जाता है। और सत्य का गला भी घोटा जाता है। चमकदार होने के साथ ही ज्ञान का शुद्ध, सात्विक और हितकारी होना भी आवश्यक है। ब्रह्मचारियों का ज्ञान ही ऐसा परिमार्जित होता है।

८—माता, पिता और आचार्यों का अपने-अपने ब्रह्मचारियों से बहुत कुछ आशा करना भी स्वाभाविक ही है। संसार के दूरवर्त्ती और भिन्न विचार रखने वाले लोग भी ब्रह्मचारियों से अपने-अपने हित की आशायें किया करते हैं। जो शिक्षा मनुष्य को स्वार्थी, संकीर्ण, धूर्त, आलसी, विद्वेषी, घमण्डी, पाखण्डी और चरित्र-हीन बनाये, उसे तो शिक्षा नहीं माना जा सकता। अशिक्षित, मिथ्या-विश्वासी, असभ्य और ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध लोगों का अस्तित्व तो किसी भी देश या जाति के लिये कल्याणकारी नहीं होता। कल्याण की कुछ आशा तो सुसभ्य और सुशिक्षित लोगों से ही की जा सकती हैं। ब्रह्मचर्यवाद तो सुसभ्यता ही है।

९—प्राण उस सूक्ष्म शक्ति का नाम है, जिस के आधार पर प्राणियों के जीवन-स्थिर रहते हैं, और जीवन को जीवन कहा जाता है। शारीरिक चेष्टाओं का सम्पादन और स्पन्दन आदि इस प्राण-तत्त्व के आधार पर ही होता है। पांच प्राण हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पांच उप-प्राण हैं—नाग, कूर्म, क्रिकल, देवदत्त और धनंजय।

१०—इन के कार्यों का संक्षिप्त विवरण यह है :—

(१) प्राण—हृदय में रहकर नासिका द्वारा मुख से भीतर-बाहिर आता जाता है और भोजन को भीतर ले जाता है।

(२) अपान—नाभि में रहता है। मल-मूत्र को बाहिर निकालता है।

(३) समान—नाभि में रहता है और जठराग्नि की सहायता से खान पान के रस को फोक से पृथक् करता है।

(४) उदान—यह कण्ठ में रहता है। प्राण को बाहिर निकालता है। बोलना और गाना इसी से होता है।

(५) व्यान—सम्पूर्ण शरीर में रहकर रसों को सब स्थानों में पहुँचाता है, पसीना लाता है और रुधिर को गति देता है।

११—पाँच उप-प्राण ये कहलाते हैं :—

(१) नाग—डकार लाता और वमन कराता है।

(२) कूर्म—पलकों का झपकना, अंगों का सिकुड़ना और फैलना इसी से होता है।

(३) क्रिकल—छींक लाता और भूख लगाता है।

(४) देवदत्त—जभाई लाता है।

(५) धनंजय—जीवित अवस्था में स्मरण शक्ति को स्थिर रखता है। मरणोपरान्त शरीर को फुलाता है।

१२—योगियों और शरीर-शास्त्रियों ने प्राणों और उप प्राणों के विषय में और भी बहुत-सी उत्तम बातों का पता लगाया है। प्राणों की शक्तियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसन्धान करना, उन का उपभोग करना और अन्य प्राणियों को भी अपने अनुसंधान से लाभ पहुँचाना, इस महान् कार्य को विधिपूर्वक पूरा करने की आशा ब्रह्मचारियों से ही की जा सकती है। दीर्घायु की प्राप्ति, शारीरिक सबलता, क्षुधा और पिपासा की वृद्धि तथा निवृत्ति, मल-मूत्र और पसीने आदि का नियम पूर्वक विसर्जन, नस-नाड़ियों आदि का स्पन्दन, रस और रक्त का नियमित संचार या प्रवाह, ये सभी शारीरिक क्रियायें प्राणों और उप-प्राणों के सम्यक् विचार तथा अनुष्ठान से ही सम्भव है।

१३—शुद्ध और शिव-संकल्पों से युक्त मन, प्रेमपूर्ण विशाल हृदय, आस्तिकता, पवित्रता और परमार्थपूर्ण विचार-धारा, ये सब ब्रह्मचारियों को सुप्राप्य होते हैं। ब्रह्मचारी अपने शुभगुणों और उत्तम उपकरणों से स्वयं तो लाभ उठाते ही हैं, इसके साथ ही वे संसार को भी बहुत अधिक लाभ पहुँचाते हैं।

१४—मनन करने की शक्ति को मन कहते हैं। आत्मा के निवास-स्थान और परमात्म-दर्शन के शरीर में स्थित-स्थान को हृदय कहते हैं। आत्मा का निवास हृदय में है। परमात्मा तो सर्वव्यापक है। हृदय में भी है ही; तथापि जब मल-क्षय, उपासना की पूर्णता, आत्मा के परम-प्रेम और परमात्मा की कृपा से आत्मा को ईश्वर-दर्शन की सिद्धि मिलती है, तो वह हृदय में ही मिलती है।

१५—यह तथ्य "हृदयम्" शब्द से भी सुस्पष्ट होता है:

हृदि + अयम् = हृदयम्। वह यह हृदय में है।

१६—सूफी सन्तों की बात सच्ची है। ढंग उनका अपना है:—

दिल के आइने में है तस्वीरे-यार।
जब जरा गरदन झुकाई देखलो॥

और—

दिल के आइने को अल्लाह सलामत रखे।
इसमें तो जाने-तमन्ना नज़र आता है मुझे॥

सच है—

जो तन मन में बसत है, कियो हृदय विच भौन।
ताको सुख-दुःख कहन की, रही बात अब कौन॥

१७—ब्रह्मचारी की इन्द्रियां असाधारण रूप में सबल होती हैं। उसकी आंखों में पवित्र दिव्य-दृष्टि का निवास होता है। उस की वाणी में पवित्र और दिव्य प्रभाव होता है। उसके श्रोत्र सदा ही खुले रहते हैं और वह दिव्य-शब्दों को, आत्मा की पुकारों को, परमात्मा के उपदेशों को, मूक पुकारों को भी—सुनने में समर्थ होता है। युग की पुकार को सुनकर वह अविलम्ब ही अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होता है. दीन-दुखियों के हा-हाकार को सुनकर उन की सहायता के लिये वह तुरन्त ही आगे बढ़ता है। दिव्य-प्रेरणाओं और हित-वचनों को वह तुरन्त ही स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार उस की घ्राण और स्पर्श शक्तियाँ भी असाधारण होती हैं।

१८—पहिले जिस को "ब्रह्म ज्येष्ठ" कहा था, ज्ञान की उसी शुभधारा को प्रस्तुत-प्रसंग में "ब्रह्म-मेधा" कहा गया है। यह मानों ब्रह्म-ज्येष्ठ शब्द

की ही टीका है। बुद्धि की परिपक्व, सात्विक और एकाग्र स्थिति को ही ब्रह्म-मेधा कहते हैं। जिसका निर्माण और पोषण वेद के अध्ययन और ईश्वर की उपासना के आधार पर होता है, वह ब्रह्म-मेधा ही तो है।

१९—आस्तिकता और वेदवाद की प्रचारक शक्ति को भी ब्रह्म-मेधा ही कहेंगे। ब्रह्मचारियों के सभी कार्य सभी आयोजन और अनुष्ठान इस ब्रह्म-मेधा द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ब्रह्म-मेधा एक दिव्य-माता वा दिव्य-चेतना है, जिसके संरक्षण में ब्रह्मचारी गण अपने लक्ष्य की ओर आगे ही आगे बढ़ते चले जाते हैं, संसार में अपनी यशोगाथायें प्रचारित करने में समर्थ होते हैं ेर अन्ततोगत्वा मानव-जीवन के चरम-लक्ष्य-मोक्ष-धाम को भी प्राप्त कर लेते हैं।

---

२५ प्रार्थना-योग

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु
धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥

अथर्व० ११। ५। २५

शब्दार्थ :—हे परमात्मन्! (चक्षुः) देखने की शक्ति, (श्रोत्रम्) सुनने की शक्ति, (यशः) यश (अस्मा) सुदृढ़ शरीर (असु) प्राण (अन्नम्) अन्न (रेतः) वीर्य (लोहितम्) लोहू=रक्त, और (उदरम्) पेट, पाचन-शक्ति को (धेहि) हमारे शरीर में प्रतिष्ठित करो, पुष्ट करो, धारण कराओ, बढ़ाओ।

भावार्थ :—हे ज्ञान-स्वरूप परमात्मन्! हमें देखने, सुनने और पचाने की शक्तियां प्रदान करो। हमें सुदृढ़ शरीर तथा सबल प्राणशक्ति प्रदान करो। आपकी कृपा से हमारे यश, अन्न, बल, वीर्य एवं नवजीवन की वृद्धि निरन्तर

होती रहे। हम सब आपकी कृपा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने में सफल हों।

प्रवचन

१—प्रत्येक ब्रह्मचारी को उचित है कि यह नित्य-प्रति प्रातः-सायं दोनों समय शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पवित्रता एवं शक्ति के सम्पादन तथा संवर्धन के लिये शुद्ध आसन पर बैठकर ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करे। शास्त्रीय-भाषा में इस अनुष्ठान को ही "सन्ध्या" तथा "ब्रह्म-यज्ञ" कहते हैं।

२—ब्रह्म-यज्ञ आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार और आत्मोन्नति की एक उत्तम और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसके विधिपूर्वक अनुष्ठान से बहुत शीघ्र ही बहुत अधिक आत्मिक लाभ होते हैं। महर्षियों द्वारा प्रचारित और वेदों द्वारा प्रतिपादित यह ब्रह्म-यज्ञ सनातन-काल से ही जन-जन का हित साधन करता चला आ रहा है। यह अधिक प्रसिद्ध भी है, अधिक प्रचलित भी। स्तुति से ईश्वरीय-बोध की प्राप्ति होती है। ऐसा होने पर सन्मार्ग में मन लगने लगता है। प्रार्थना से गुण-ग्रहण में प्रीति होती है। सत्य की धारणा दृढ़ होती है। शुभकर्मों के अनुष्ठान में अनुराग बहुत अधिक बढ़ जाता है और अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण होता है।

३—उपासना से सत्य का साक्षात्कार होता है। शुभ कर्मों के स्वरूप और परिणामों का ठीक-ठीक निश्चय होता है, तथा आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है। आनन्द का वर्णन लेखों या भाषणों के रूप में करना सम्भव नहीं है। वह तो केवल मात्र आत्मानुभूति का ही विषय है। उसे तो अपने-अपने अनुभव के आधार पर ही समझना और प्राप्त करना चाहिये। वह तो गूंगे के गुड़ के समान है।

४—स्तुति, प्रार्थना और उपासना के मिले-जुले रूप का ग्रहण अकेले प्रार्थना या उपासना शब्द से भी किया जाता है। अकेले रूप में 'प्रार्थना' शब्द का व्यवहार कुछ अधिक होता है।

५—प्रार्थना के विषय में प्रभु-भक्तों ने समय-समय पर अत्यधिक उद्गार

प्रकाशित किये हैं। कोई कहता है कि प्रभात में प्रार्थना प्रभु की कृपा तथा आशीर्वाद को खोलने की कुंजी हैं। सायंकाल में प्रार्थना प्रभु की संरक्षा सुरक्षा में बन्द होने की कुंजी है। दूसरा कहता है कि प्रार्थना वह पंख है जिस से आत्मा स्वर्ग की ओर दौड़ता है और ध्यान वह आँख है जिस से हम प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। तीसरा कहता है कि यदि कोई स्तुति और प्रार्थना द्वारा एक हाथ भर भगवान् के समीप पहुंचता है, तो भगवान् उस अपने भक्त से मिलने के लिये पचासों मील आगे बढ़ आते हैं। चौथा कहता है कि प्रार्थना वह शक्ति है, जो सब प्रलोभनों पर विजय पाती है। पांचवें भक्त का कथन है कि जो कुछ हम परमात्मा से मांगते हैं, उस से हमें यह मालूम पड़ता है कि परमात्मा हम से क्या चाहता है? एक और भक्त का कथन है कि कभी यह न सोचो कि प्रभु का विलम्ब उसकी अस्वीकृति है। सच्ची प्रार्थना जो कुछ मांगती है, वह अथवा उस से भी शुभ, अधिक शुभ वस्तु पाती है।

६—एक अन्य सन्त का कथन है कि प्रार्थना में हमारी कल्पना से भी अधिक काम करने की शक्ति है। एक और महापुरुष ने कहा है कि यदि तुम जीवन के सब संकटों और मुसीबतों को धैर्य पूर्वक सहन करना चाहते हो तो प्रार्थना करने वाले बनो। यदि तुम दुश्मन के प्रलोभनों पर विजय पाने की शक्ति तथा साहस प्राप्त करना चाहते हो, तो प्रार्थना करने वाले बनो। यदि तुम प्रसन्न-चित्त बने रहना चाहते हो और तपस्या एवं बलिदान की राह पर हंसते-हंसते चलना चाहते हो, तो प्रार्थना करने वाले बनो। यदि तुम मक्खी और मच्छरों की तरह आत्मा को सताने वाले बुरे विचारों और चिन्ताओं से मुक्त होना चाहते हो, तो प्रार्थना करने वाले बनो। यदि तुम भक्ति-रस से आत्मा को पुष्ट करना और शिव-सकल्पों से ओत-प्रोत रखना चाहते हो, तो प्रार्थना करने वाले बनो। यदि तुम अपने अन्तरात्मा से सब पापों को जड़ मूल सहित उखाड़ फेंकना चाहते हो, तो प्रार्थना करने वाले बनो।

७—प्रार्थना द्वारा ही मनुष्य उस परम प्रभु, सनातन गुरु के प्रेम-प्रसाद को प्राप्त करता है। भक्तों के इन सभी उद्गारों के पीछे उनकी अपनी-

अपनी अनुभूतियां हैं। प्रार्थना के महत्व को प्रभु-भक्तजन ही भली प्रकार जानते है। हमें भी प्रार्थना-शील बनकर अपना प्रार्थना का अभ्यास दृढ़ करना चाहिये। वेद हमारा पूरा-पूरा पथ-प्रदर्शन करता है।

८—प्रत्येक व्यक्ति वेद से सहायता लेकर अपने शब्दों में प्रार्थना करे :

९—हे वेद-विद्या के प्रकाशक ! अखिल विश्व में व्यापक. सब के पालक, पोषक, नियामक, उन्नायक, सहायक, पथ-प्रदर्शक और सच्चिदानन्दस्वरूप परमपिता परमात्मन् ! आप हमको ऐसी बुद्धि, शक्ति और दृढ़ता प्रदान करो, जिससे हमारी दर्शन-शक्ति उत्तम हो, श्रवण-शक्ति उत्तम हो, हमारी घ्राण-शक्ति, रसना-शक्ति, स्पर्श-शक्ति और पाचन-शक्ति भी उत्तम हो। हमारी सभी शक्तियां उत्तम और सुविकसित हों। अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से हम सदैव शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करें। अपनी किसी भी शक्ति का दुरुपयोग हम कभी न करें। हे देवाधिदेव ! हमारे शरीर सुन्दर, स्वस्थ, और सुदृढ़ हों। हमारी प्राण-शक्ति शुद्ध और उत्तम हो। हमारा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक भोजन पर्याप्त, सात्विक और सब प्रकार से हितकर हो। उस भोजन के द्वारा हमें उत्तम बल, वीर्य, ओज, तेज, प्रभाव और यश की प्राप्ति हो।

१०—हे परमात्मन् ! हमारी विद्या. इन्द्रियां, हमारा तन, मन और धन, सब कुछ यशस्वी हो। हमारे मित्र, साथी, सहयोगी माता, पिता, आचार्य आदि सभी पितर एवं सम्बन्धी स्वस्थ और यशवाले हों। आप की कृपा से हमारा किसी भी अवस्था में किसी भी प्रकार का पतन न हो। आपकी कृपा से हम सदा आगे ही आगे बढ़ें, ऊपर ही ऊपर उठें।

११—हे दयालु और कृपालु देव ! हम जो कुछ भी भोज्य-पदार्थ ग्रहण करें, वह सुपाच्य, स्निग्ध, बल-बुद्धि-वर्धक, और श्रेष्ठ उपायों से उपार्जित हो। भोजन ग्रहण करने के अनन्तर हमारे शरीर में शुद्ध रक्त की वृद्धि हो। हमारे शरीर के रक्त-संचार, मांस, मज्जा, अस्थि, चरम आदि की उत्पत्ति प्राण, अपान और व्यान आदि की सभी क्रियायें और ओज, तेज आदि का संवर्धन एवं व्यवहार नियम पूर्वक होता रहे। हे भगवन् ! हम सब प्रकार के पापों, अभावों तथा रोगों से रहित, सुदीर्घ और यश-पूर्ण जीवन को पायें।

१२—हे दयानिधे ! आप सभी शुभकर्मों में हमारी सहायता करें। यदि हम कभी भूलवश कोई अनुचित प्रार्थना करने लगें, तो आप उसे स्वीकार न करें। दयामय ! हम नहीं जानते कि हमारे लिये क्या हितकर है ? और क्या हानिकारक है ? अब तो हम सब प्रकार से आप के होकर ही अपने जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। हे नाथ ! आप की कृपा से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति का हमारा लक्ष्य पूर्ण हो। प्रभुवर ! हमारी शक्तियां अत्यन्त अल्प हैं। थोड़ा-बहुत जो कुछ भी ऐश्वर्य तथा सामर्थ्य हमें प्राप्त है, वह सब आपकी कृपा का प्रसाद ही तो है। हमारा यह आपा भी तो अपना नहीं है। हे नाथ ! हम क्या गायें ? क्या सुनायें ? क्या आपकी भेंट धरें ? ये चिन्तायें हमें कई प्रकार से व्यथित करती हैं। अब तो आपकी कृपा से ही हमारा बेड़ा भवसागर से पार होगा।

१३—हे नाथ ! काम, क्रोध मद, मोह, लोभ और अहंकार रूपी शत्रु हमें अनेक प्रकार से पीड़ित करते रहते हैं। इनके उत्पीड़न से हमें बचाओ। राग, द्वेष, आलस्य, और तमोगुण तथा रजोगुण के कष्टदायक प्रभाव से हमारी रक्षा करो। मृत्यु का भय हमें अनेक प्रकार से डराता रहता है, अपनी कृपा से अब तो इस विभीषिका को भी हम से दूर कर दो। आप की कृपा से हम सब प्रकार के पाप. ताप और बन्धनों से बचकर, आवागमन के चक्र से छूटकर आपके आनन्द-धाम में ही रहने की कामना करते हैं। हे नाथ ! हम तो आपके द्वार के सनातन भिक्षुक हैं। पिता जी ! अब तो हमारी पुकार सुनो। अब तो हमारी प्रार्थना को स्वीकार करो।

१४—हे सब की उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु के विधायक, महामहिमामय भगवन् ! जो दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुष्टजन, दुष्कर्म, दुष्टप्रभाव और दूषित पदार्थ हैं, वे सब हम से दूर करदो और जो कल्याणकारी गुण, कर्म, स्वभाव एवं पदार्थ हैं, उन की ही प्राप्ति हमें कराओ। हे नाथ ! इस प्रार्थना को स्वीकार करो। हमें उत्तम बुद्धि, सच्चा सुख और सच्ची शान्ति प्रदान करो। हे सर्वशक्तिमन् ! हम सब की भलाई में ही अपनी भलाई समझें। आपकी कृपा से हमारा परोपकार और सर्वहित का व्रत पूर्ण हो। हे सर्वोपरि भगवन् ! सबका भला हो। सबका सब प्रकार से भला हो।

१५—ऊपर की पंक्तियों में ईश-वन्दना का एक रूपक प्रस्तुत किया गया है। देश, काल और परिस्थिति एवं पात्र-भेद से प्रार्थना के कई प्रकार हो सकते हैं। प्रत्येक ईश्वर-प्रार्थी को उचित है कि वह जब कभी भी प्रार्थना, करे, तब चित्त को भली प्रकार शान्त और एकाग्र करले। प्रार्थना, वास्तव में प्रार्थना हो, तोतारटन्त न हो। प्रार्थना के मिस से लोक-दिखावा न हो। प्रार्थना का अनुष्ठान एकान्त स्थान में हों, तो अधिक उत्तम है। प्रार्थना का प्रत्येक शब्द हृदय से निकलना चाहिये।

१६—प्रार्थना के बल को समझना, प्राप्त करना और उसका सदुपयोग सभी को करना चाहिये। परन्तु प्रार्थना द्वारा मनोकामनाओ की पूर्ति के लिये प्रार्थी का शुद्ध, पवित्र, सच्चा और सरल होना आवश्यक है। प्रार्थना भी मनुष्य का एक आवश्यक कर्तव्य ही है। सौदेबाज़ी का रूप कोई भूल कर भी प्रार्थना को न दे। प्रभु के दरबार में उपस्थित होकर न कोई उच्छृंखलता की जाये, और न ही सौदागरों की-सी भाषा का प्रयोग किया जाये। एक प्राचीन प्रार्थना है :—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।
असत्य से सत्य की ओर ले चल। अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल।
मौत से अमर-जीवन की ओर ले चल।

१७—जब प्रार्थीजन प्रार्थना कर्म का दृढ़ अभ्यास कर लेते हैं तब अनेक प्रकार के चमत्कार उनके अनुभव में आने लगते हैं। उन चमत्कारों को खेल-तमाशे का रूप देना ठीक नहीं है। वे तो प्रार्थना-योग की आरम्भिक सफलताओं की सूचना-मात्र होते हैं। प्रार्थना-योग से होने वाली सभी सिद्धियों का उपयोग भी सर्वहित के लिये ही करना चाहिये। स्वार्थ-भावना से तो मनुष्य का तेज नष्ट हो जाता है।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य
पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिंगलः
पृथिव्यां बहु रोचते ॥

अ॰ वे॰ ११। ५। २६

शब्दार्थ :—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (सलिलस्य) कर्म-समूह की, चंचल चित्त वृत्तियों की (पृष्ठे) पीठ पर बैठ कर (तपः अतिष्ठत्) तप का अनुष्ठान करता है। (समुद्रे) संसार-सागर में, तरंगों से परिपूर्ण हृदय-समुद्र में (तप्यमानः) तप करता हुआ वह (तानि) उन इन्द्रियों को, पूर्व वर्णित देखने, सुनने, पचाने आदि की शक्तियों और यश, बल, अन्न, वीर्य, एवं नव-जीवन को (कल्पत्) प्राप्त करता है, बढ़ाता है। (सः) वह (स्नातः) सब विद्याओं में निष्णात, दक्ष उत्तीर्ण ब्रह्मचारी (बभ्रुः) ओजस्वी, तेजस्वी, कान्ति और दीप्ति से सम्पन्न (पिंगलः) उत्तम पुष्ट अंगों वाला, सात्विक विचारों वाला (पृथिव्याम्) संसार में (बहु रोचते) बहुत शोभा को प्राप्त करता है।

भावार्थ :—जो मनुष्य संसार-सागर में रहकर, सच्चे हृदय से अपनी चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध करके ब्रह्मचर्य व्रतपालनरूपी तप का अनुष्ठान करता है, वह अपनी तपस्या में सफल होकर देखने-सुनने-पचाने, यश प्राप्त करने और अपने शरीर एवं मन, बुद्धि आदि को पूर्णतया विकसित करने, की शक्तियों को भी प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त करके ओजस्वी, तेजस्वी, पुष्ट और स्वस्थ शरीर वाला बनकर, वह संसार में अक्षय यश और शोभा को प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी का यश अद्भुत है। उसकी सफलतायें महान् हैं। सम्पूर्ण संसार अपने कल्याण के लिये उत्सुकता-पूर्वक ब्रह्मचारी की ओर देख रहा है।

प्रवचन

१—चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। इस दृष्टि से ब्रह्मचारी भी एक प्रकार का योगी ही है। योग के समान ही ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान भी तो चित्त की वृत्तियों का निरोध करके ही सफल होता है। यदि कोई ऐसा समझता है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध के बिना भी ब्रह्मचर्य की सिद्धि प्राप्त हो सकती है, तो उसकी धारणा ठीक नहीं है।

२—चित्त की वृत्तियों से हमारा अभिप्राय उन कामनाओं, इच्छाओं, लालसाओं और वासनाओं से है, जो कि कुसंस्कार, मिथ्याज्ञान, संग-दोष अन्न-दोष आदि अनेक कारणों से मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं अथवा प्रेरित करती रहती हैं। वे वृत्तियाँ शुभ भी होती हैं, अशुभ भी। शुभ वृत्तियां मनुष्य को ईश्वर-चिन्तन और परोपकार आदि शुभ कर्मों में प्रेरित करती हैं। अशुभ वृत्तियाँ मनुष्य को इन्द्रियों के विषय-भोगों में फसाती हैं।

३—योग के रूप में वृत्तियों का जो निरोध किया जाता है, उस में अच्छी वृत्तियों का संवर्धन और बुरी वृत्तियों का क्षय किया जाता है। जिस मनुष्य का मन चंचल हो जाये और वह रात-दिन आँख, नाक, रसना तथा त्वचा के भोगों को जुटाने में ही लगा रहे, वह यदि कभी किसी शुभ प्रेरणा वश ब्रह्मचर्य का पालन करना भी चाहे, तो वह कैसे करे? यही कारण है कि बहुत से लोग ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन की प्रतिज्ञा करके भी, उसको पूर्ण नहीं कर पाते।

४—पातंजल-विधान के अनुसार योग के आठ अंग हैं। उनमें सबसे पहला अंग "यम" कहलाता है "यम" यह योग दर्शन की एक परिभाषा है। पाँच महाव्रतों के समुच्चय को योग-शास्त्र में "यम" यह नाम दिया गया है। "यम" शब्द का अर्थ नियम, नियामक और वशीकरण होता है। वे पांच महाव्रत इस प्रकार हैं।—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

५—मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना अहिंसा कहलाता है। मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य, का व्यवहार करना सत्य है। अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही कहना और करना। चोरी न करना। चोरी न करने को अस्तेय कहते हैं। आवश्यकता से अधिक धन, अन्न,

पदार्थ आदि को अपने पास रखना भी एक प्रकार की चोरी ही है। ब्रह्मचर्य को इस महाव्रत-समुच्चय में चौथे स्थान पर गिना गया है। वेदाध्ययन और ईश्वर विचार यहाँ ब्रह्मचर्य का मुख्यार्थ हैं। लोभ के मनसा, वाचा, कर्मणा परित्याग को अपरिग्रह कहते हैं।

६—यद्यपि योग-शास्त्र पाँच महाव्रतों का उल्लेख करता है; तथापि हम देखते हैं कि एक ब्रह्मचर्य-व्रत में ही शेष चारों महाव्रतों का समावेश हो जाता है। अथवा यूं समझें कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह ये चारों व्रत ब्रह्मचर्य के ही अंग हैं। पाँच यमों में एक अकेला ब्रह्मचर्य ही ऐसा है, जोकि अपना स्वतन्त्र स्थान तथा महत्व रखता है। इस प्रकार योग का सर्व प्रथम, प्रधान और आधारभूत अंग ब्रह्मचर्य ही सिद्ध होता है। यदि ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करके, कोई मनुष्य योग-साधन में प्रवृत्त होगा, तो वह सफल न हो सकेगा।

७—ब्रह्मचर्य-व्रत का सफलतापूर्वक अनुष्ठान निसन्देह अत्यन्त कठिन है। ऐसा होने पर भी ब्रह्मचारी-गण इसका अनुष्ठान करते ही हैं और वे सफल भी होते हैं। मनुष्य के स्वभाव की यह एक विचित्रता है कि जब एक बार यथार्थ-रूप में, वह अपनी किसी त्रुटि वा दुर्बलता को जान लेता है, तब वह अपने पूर्ण सामार्थ्य से उसको दूर करने में लग जाता है और उसको पूर्णतया दूर करके ही दम लेता है। त्रुटियों को सहन करना मनुष्य के स्वभाव के विपरीत कर्म हैं।

८—जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, अथवा इच्छा होने पर भी अपने चित्त की चंचलता और कुसंस्कारों एवं मानसिक-मलों की अधिकता के कारण, जो ब्रह्मचर्य का पालन कर ही नहीं सकते, उनकी प्रायः बहुत ही अधिक दुर्दशा होती है। उनके चेहरे कुरूप हो जाते हैं नाना प्रकार के रोग उनको घेर लेते हैं, उनके आँख, नाक, कान, मुख आदि दुर्बल हो जाते हैं, उनकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है, उनके उत्साह, साहस, स्फूर्ति और विवेक आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उनको पग-पग पर लांच्छित और अपमानित होना पड़ता है, और उनके स्वत्व भी उनसे छिन जाते हैं। परन्तु जो सदाचारी जन होते हैं, वे इन सब प्रकार के दोषों से, रोगों, अभावों और

दुर्दशाओं आदि से बचे रहते हैं, और वे आनन्दमय तथा स्वस्थ चिर-जीवन का उपभोग भी करते हैं।

९—यह शरीर कर्म-योग का स्थान भी है, और धर्म-संग्रह का साधन भी। कोई भी सच्चा ब्रह्मचारी शरीर-रक्षा के विषय में उदासीन वा प्रमादी नहीं हो सकता। विषय-लोलुपता और शरीर-रक्षा के भेद-प्रभेद और हानि-लाभ का विचार यहां भली प्रकार कर्तव्य है। धर्म-संचय के लिये शरीर को नीरोग और सबल बनाना भी मनुष्य का एक मुख्य कर्तव्य है।

१०—कुछ लोग विद्या-प्राप्ति धर्म-संचय, सदाचार, ईश्वर-विचार, वेद-पाठ आदि पर तो ध्यान देते हैं, परन्तु अपने स्वास्थ्य की रक्षा पर वे यथोचित ध्यान नहीं देते। ऐसा करने से वे बहुत बड़ी-बड़ी हानियां उठाते हैं, और रोते-कलपते हुए देखने में आते हैं। कई बार तो उत्तम स्वास्थ्य के अभाव में उनकी विद्या आदि की बड़ी-बड़ी सफलतायें भी विफलताओं का रूप धारण कर लेती हैं। सफलता सदाचार का प्रतिफल ही तो है।

११—जो लोग विद्यादि सद्गुणों से युक्त लोक-व्यवहार में दक्ष, पूर्ण स्वस्थ, ओजस्वी, तेजस्वी और सुडौल शरीर वाले होते हैं, संसार में वे ही विशेष आदर, मान और बड़ी-बड़ी सफलताओं को प्राप्त करते हैं। इसलिये प्रत्येक स्त्री और पुरुष को उचित है कि वह ब्रह्मचर्य-व्रत को ग्रहण करे। इस व्रत के अनुष्ठान में उसे चाहे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़े, परन्तु अपने व्रत को भंग न करे।

१२—ब्रह्मचर्य के प्रतिपालन की ओर इस समय संसार के लोगों का ध्यान बहुत ही कम है। जिधर देखो, उधर ही खाओ, पिओ और बच्चे पैदा करो का राग सुनाई देता है। यह भारी अनुताप का विषय है। ब्रह्मचर्य-योग की उपेक्षा का परिणाम बहुत ही बुरा, अशान्तिवर्धक और सद्व्रतों के विनाश के रूप में प्रकट हो रहा है। संसार के लोगो! सम्भलकर चलो। मनुष्य-जन्म तो एक अनमोल हीरा है, इसकी रक्षा करो। इसका सदुपयोग और सत्कार करो।

१३—वेद भोगवाद का विरोधी नहीं है, किन्तु भोग पर त्याग और संयम

की शर्त वेद लगाता है। त्यागपूर्वक भोगो। संयम का संबल धारण करो। पवित्रता, सरलता, और सात्विकता का सम्पादन करो।

१४—ब्रह्मचर्य-योग का यह अनुष्ठान-पुरुष-वर्ग और स्त्री-वर्ग दोनों के लिये ही आवश्यक और हितकर है: किसी को भी इस विषय में यह भ्रम न होना चाहिये कि ब्रह्मचर्य का उपदेश केवल-मात्र पुरुषों के लिये ही है और स्त्रियों के लिये नहीं है। जैसे ईश्वरोपासना और वेदों के पठन-पाठन में पुरुषों और स्त्रियों के कर्तव्य एवं अधिकार एक ही जैसे हैं; वैसे ही इन्द्रियों के संयम, शरीर के विकास और सदाचार के संवर्धन कार्यों में भी दोनों के कर्तव्य और अधिकार एक ही जैसे हैं।

१५—जैसे ब्रह्मचारियों के लिये ब्रह्मचर्य-पालन के विस्तृत कार्यक्रम तैयार किये जायें और लड़कों तथा युवकों से उनका दृढ़ता-पूर्वक पालन करवाया जाये, वैसे ही ब्रह्मचारिणियों के लिये भी ब्रह्मचर्य-पालन के विस्तृत कार्यक्रम तैयार किये जायें और कन्याओं तथा युवतियों से दृढ़ता-पूर्वक उनका पालन करवाया जाये। हां, यह आवश्यक है कि ब्रह्मचारियों के कार्यक्रमों का आयोजन और नियमन मुख्यरूप से अधिकारी पुरुषों के हाथ में रहे और ब्रह्मचारिणियों के कार्यक्रमों का आयोजन और नियमन अधिकारिणी महिलाओं के हाथ में रहे।

१६—ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियों के शिक्षा-संस्थान भी एक दूसरे से दूर ही स्थापित किये जायें। लड़कों और लड़कियों की सह-शिक्षा के सम्पूर्ण आयोजन ब्रह्म चर्य-व्रत के बाधक और विनाशक हैं, अतः सह-शिक्षा का विधान शिष्ट-सम्मत नहीं है, अनाचार-वर्धक है। इस प्रकार श्रेष्ठ तपस्वी ब्रह्मचारी बनकर लोक का उपकार करते हैं और संसार उनका सम्मान करता है।

* समाप्त *